साक्षात्कार

अंक : 488 | फरवरी , 2021

साक्षात्कार

डॉ. विकास दवे
सम्पादक

ISSN : 2456-1924

साक्षात्कार

फरवरी, 2021
अंक : 488

सम्पादकीय एवं ग्राहकीय पत्र-व्यवहार : निदेशक/सम्पादक, साहित्य अकादमी, संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल-462003

फ़ोन : 0755 - 2554782 (कार्यालय)

साक्षात्कार की प्रकाशनार्थ रचनाओं के लिए
email : sakshatkarnew@gmail.com पर मेल करें।
web : http://mpsahityaacademy.com पर भी पढ़ सकते हैं।

वार्षिक सहयोग राशि
व्यक्तिगत ग्राहकों के लिए : ₹ 250
संस्थाओं के लिए : ₹ 300
आजीवन : ₹ 3,000

यह अंक : ₹ 25 (रजिस्टर्ड डाक खर्च अतिरिक्त)

समस्त बैंक ड्रॉफ्ट/मनीआर्डर '**निदेशक, साहित्य अकादमी, भोपाल**' के नाम स्वीकार्य होंगे।

आवरण एवं रेखांकन : संदीप राशिनकर, इंदौर

आकल्पन : राकेश सिंह

मुद्रण : मध्यप्रदेश माध्यम, अरेरा हिल्स, भोपाल

'साक्षात्कार' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार अपने हैं। सम्पादक या साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन का उनके विचार के प्रति सहमत होना आवश्यक नहीं है।

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश का मासिक प्रकाशन

अनुक्रम

संपादकीय//05

बातचीत

वरिष्ठ साहित्यकार राकेश शर्मा से डॉ. विकास दवे की बातचीत // 07

आलेख

डॉ. देवेन्द्र दीपक शब्द-शब्द बोध // 13

उमा शंकर चतुर्वेदी रस की रसिकता // 16

डॉ. दादूराम शर्मा महाप्राण निराला की भारत-भारती-वंदना // 23

दानबहादुर सिंह हिन्दी आलोचना के प्रवर्त्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा // 27

डॉ. गजानन चव्हाण महाराष्ट्र के निर्माण में वारकरी संप्रदाय का योगदान // 33

कमल किशोर गोयनका प्रेमचंद साहित्य में कम्युनिस्टों का चरित्र // 41

सुधा तैलंग संस्कृति, कला, साहित्य वर्तमान और अपेक्षाएँ // 50

डॉ. सुनीता खत्री मानवीय संवेदनाओं की पैरोकार : मालती जोशी // 57

डॉ. पुष्पा रानी गर्ग मेरे आँगन के नीम दादा // 60

संस्मरण

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' प्रभाकर माचवे // 64

कविताएँ

नरेश कुमार 'उदास' जीवन-मृत्यु // 68

प्रो. फूलचंद मानव माँ के मुहावरे // 73

कुँवर प्रदीप निगम ग़ज़ल // 77

ओम उपाध्याय 'वसंतोत्सव' // 79

सोनल प्रधान आज क्यों न तुम चलो // 81

अंकिता प्रधान एक झील // 84

दिनेश भारद्वाज शंकाओं का संहार करें! // 85

प्रो. महेश दुबे अनुवाद // 86
दिनेश पाठक 'श्रेयांश' कविता के लिये कविता // 87
अनिरुद्ध जोशी पानी बनना चाहता हूँ // 89
रामदरश मिश्र आठ मुक्तक // 99

कहानी

देवेन्द्र कुमार मिश्रा ईमानदार लाश // 101
डॉ. कमल चतुर्वेदी 'सरला मैडम के मिस्ड कॉल' // 109

समीक्षा

श्रीमती अंजु जाटव ''शिवोहम्'' सत्यम् शिवम् सुन्दरम् // 114
डॉ. विद्या केशव चिटको क्रांतिपर्व, सन्मार्ग, समत्व और सत्कर्म की त्रिवेणी // 115
नरेन्द्र श्रीधर जोशी जीवन दर्शन व प्रेम-पराकाष्ठा की कविताएँ // 117
युगेश शर्मा युगे-युगे शिशुपाल: पीड़ा और आक्रोश मिश्रित स्वर // 119

सम्पादकीय

आइए साहित्यकार को पढ़ें

आत्मीय बंधु/भगिनीगण,
सादर प्रणाम।

साक्षात्कार का एक और नया अंक आपके हाथों में है। इस समय लगातार साहित्यिक आयोजनों और राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियों में देशभर का प्रवास चलता रहता है वास्तव में यह प्रवास साहित्य अकादमी में दायित्व ग्रहण करने के बाद प्रारंभ हुआ ऐसा बिल्कुल नहीं है। अपितु विगत तीन दशक से साहित्य सेवा में यायावर की तरह घूमना यह सतत् चलता रहा है। इस मध्य भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव वाले साहित्यकारों से भेंट होती रही। इन सभी प्रवासों में एक भाव मन में उपजा और एक आह्वान प्रत्येक साहित्यिक आयोजनों में जाने पर करता रहा। वह यह कि इन दिनों हम सब लगातार खूब लिखने में लगे हैं। लेखन इतना अधिक हो रहा कि पाठकों का संकट खड़ा हो गया। अधिकांश पाठक स्वयं लेखक हो गये। अधिकांश लेखक एक-दूसरे का लिखा पढ़ने की फुर्सत नहीं निकाल पा रहे। इन परिस्थितियों में साहित्य पढ़ना यह दूर की कौड़ी होता जा रहा है। लेकिन इससे भी बड़ी विभीषिका इन दिनों तैयार हो चुकी है जिससे डरकर मैंने कहना प्रारंभ कर दिया है- ''आज आवश्यकता साहित्य को पढ़ने की नहीं साहित्यकार को पढ़ने की है''।

यह बात मुझे तब ध्यान में आई जब बाल साहित्य के एक अत्यंत वरेण्य और वयोवृद्ध रचनाकार (जो अब दिवंगत हो चुके) उनकी मृत्यु से पूर्व भयंकर अवसाद से ग्रस्त हो गये थे। पाँच सौ से अधिक पुस्तकें लिखने वाला यह रचनाधर्मी जीवन की अंतिम घड़ियों में समाज के द्वारा इस तरह उपेक्षित किया गया कि पाठक तो पाठक उनके समकालीन और बाद के युवा साहित्यकारों ने भी उनसे मिलना बंद कर दिया।

परिस्थितियाँ यहाँ तक पहुँची कि मैं जब उनसे मिलने पहुँचा तो उन्होंने आदरणीय माता जी (उनकी अर्धांगिनी) को यह स्पष्ट कह दिया कि जो भी आये हैं उनसे कह दो मुझे किसी से बात नहीं करनी। जैसे तैसे उनसे भेंट की और जिद्द पूर्वक लगभग 11 घंटे उनके साथ व्यतीत किये। पास के एक

उद्यान में हाथ पकड़ कर उन्हें और माता जी दोनों को लेकर गया। एक बेंच पर उन्हें बैठाकर कुछ बच्चों को एकत्र किया और उनसे आग्रह किया कि वे बच्चों को कहानियाँ सुनाएँ कुछ गीत सुनाएँ।

इस पूरी प्रक्रिया ने उन्हें एकदम तरोताजा कर दिया जिस समय उनसे विदा लेकर निकल रहा था वह फूट-फूटकर मेरा हाथ पकड़ कर देर तक रोते रहे। तभी से मैंने यह तय किया कि मैं अब साहित्य पढ़ूँ या न पढ़ूँ साहित्यकारों को पढ़ने का अवश्य प्रयास करता रहूँगा। तब से ही यह आव्हान भी मैं लगातार सभी साहित्यिक मंचों से करता चला आ रहा हूँ कि हम साहित्यकारों को पढ़ने का उपक्रम प्रारंभ करें अन्यथा रचनाकर्म का यह सकारात्मक संसार ठीक वैसी ही रिक्तता को प्राप्त करता चला जाएगा जैसी रिक्तता हमें अभिजात्य अर्थ जगत में दिखाई देती है। साहित्यकार अपने ही लिखे पृष्ठों और शब्दों के ढेर में दबकर नितांत अकेला हो जाए उससे पहले उन साहित्यकारों का मन टटोलने का प्रयास हम सब मिलकर करें।

विशेषकर अवस्था के उत्तरार्ध को प्राप्त कर चुके वयोवृद्ध और अनुभव समृद्ध पीढ़ी को अत्यंत स्नेहपूर्ण व्यवहार से सहेजना नई पीढ़ी का प्रथम दायित्व है। आप एक वयोवृद्ध साहित्यकार से मिलकर उनके साथ एक घंटा बिताएँगे तो मुझे लगता है यह एक पुस्तक लिख देने से ज्यादा बड़ा पुण्य का कार्य होगा। आशा है संपूर्ण साहित्य जगत मेरे मनोभावों को समझेगा। वैसे अब तक होता तो यह भी आया है कि मेरी बातों को और मेरे द्वारा संपादकीय में लिये गये विषयों को 'सोशल प्लेटफॉर्म' पर मजाक भी बनाया जाता है। भले ही मजाक बना लीजिए किंतु इस विषय को हम सब गंभीरता से लें यही विनम्र प्रार्थना आप सब के चरणों में है। साक्षात्कार के इस अंक के सभी वरिष्ठ लेखकों को साधुवाद और आभार।

आपका ही

डॉ. विकास दवे
संपादक

अपनी पत्रिका के शीर्षक के अनुरूप भारत भर के वरिष्ठ रचनाकारों से संवाद स्थापित करते हुए साक्षात्कार लेकर उनकी साहित्य यात्रा और रचना कर्म से अन्य रचनाकारों को परिचित करवाना यह इस स्तम्भ का मुख्य हेतु रहेगा। यूँ तो 'साक्षात्कार' पत्रिका अपने नाम के अनुरूप इस तरह के साक्षात्कारों का पहले भी प्रकाशन करती रही है किंतु इसमें एक प्रयोग प्रारंभ किया है। विगत दिनों भारतीय साहित्यिक पत्रकारिता के संदर्भ में एक पुस्तक पढ़ते हुए श्रद्धेय माखनलाल चतुर्वेदी जी और धर्मवीर भारती जी के संबंध में एक आलेख पढ़ते हुए यह ध्यान में आया था कि कोई भी साहित्यकार पत्रिका का संपादक बनते ही अपने आप को एक अलग पाले में खड़ा कर लेता है और रचनाकारों को दूसरे पाले में खड़ा कर देता है। यदि संपादक और रचनाधर्मियों के बीच सीधा संवाद स्थापित करने की सुचारू व्यवस्था बन जाए तो स्वाभाविक रूप से वह साहित्यिक पत्रिका साहित्यकार पाठकों के लिए भी अत्यंत आत्मीय हो जाती है। बस इसी बात को ध्यान में रखकर यह सोचा है कि पत्रिका में संपादकीय का आकार भले थोड़ा छोटा रहे किंतु मैं स्वयं चर्चा करके वरिष्ठ रचनाकारों के साक्षात्कार लूँ और उन्हें आप सबके समक्ष रखूँ। इस बहाने मेरा तो प्रशिक्षण होगा ही आप सब भी इन रचनाकारों के जीवनानुभवों से बहुत कुछ प्राप्त कर सकेंगे। इसी शृंखला में प्रस्तुत है यह साक्षात्कार।–सम्पादक

राकेश शर्मा से डॉ. विकास दवे की बातचीत

डॉ. विकास दवे : साहित्य में आने की प्रेरणा कहाँ से मिली? परिवार में साहित्यिक वातावरण रहा होगा?

राकेश शर्मा : विकास जी, मेरा जन्म एक गरीब किसान परिवार में हुआ है। वहाँ कोई 'साहित्यिक' वातावरण नहीं था। मेरी जन्मतिथि 1 जुलाई 1961 लिखी है जो कि गलत है और सही मुझे मालूम नहीं। यह वह दौर था जब देश आजाद ही हुआ था। देश में सर्वत्र गरीबी का आलम था। अंग्रेजों ने शोषण जितना उत्तरप्रदेश और बिहार का किया था उतना किसी और प्रान्त का नहीं है। इसका ऐतिहासिक कारण यह कि अंग्रेजों के विरुद्ध सबसे अधिक संग्राम इन्हीं प्रदेशों ने शुरू किया। मेरठ से जो आग लगी थी वह निरन्तर जलती रही। अंग्रेजों ने बदले की भावना से इन प्रदेशों को बहुत हानि पहुँचाई। परिणामस्वरूप ये प्रदेश पूरी तरह बरबाद हो गए। बाद के समय में हमारी सरकारों ने इन प्रदेशों पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अपेक्षित था। इन प्रदेशों को पहले हिन्दू–मुसलमानों में बाँटा और बाद में जातियों में विभाजित कर समाज में गहरी खाई पैदा की। खैर, इतिहास के तथ्य हैं। मैं, कह रहा था कि मैं बहुत गरीबी में पला। स्थिति यह थी पाठ्यपुस्तकें भी नहीं उपलब्ध हो पाती थीं। घर में कोई साहित्यिक पत्रिका आदि नहीं आती थी। इसलिए बचपन में साहित्यिक संस्कार प्राप्त करने का कोई कारण ही नहीं था।

उत्तरप्रदेश के जिला इटावा (अब औरैया) के एक अत्यंत छोटे से गाँव न्यामतपुर में जन्म मिला, यहाँ पर आधुनिक संसाधन आज भी नहीं हैं तो उस समय की कल्पना आप कर लीजिए। घर में श्रीरामचरित मानस का पाठ पिताजी करते थे। उन्हें देखकर मैं भी पाठ करने लगा। अब लगता है कि इस

ग्रंथ ने ही पूर्व जन्मों के सोए संस्कार जगा दिए। बाद में शिक्षा में हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य को विशेष तौर से पढ़ा और अभी भी पढ़ना चाहता हूँ।

आज जब साठ वर्ष की आयु पूर्ण कर ली है तो इस अनुभव पर पहुँचा हूँ कि जीवन में जो होना है, वह पूर्व निर्धारित है। आपके प्रयास और आपके कर्म उसे पूरा करने में अपनी भूमिका निभाते हैं। ''कर्म प्रधान विश्व रचि राखा'' इस पंक्ति पर मेरी गहरी आस्था है। भाग्य को नकारा नहीं जा सकता और कर्म की भूमिका को खारिज नहीं कर सकते। मनुष्य जीवन में बहुत कुछ ऐसा घटता है कि लगता सब भाग्य के आधीन है। मगर कर्म ही तो हमें गतिमान रखता है।

डॉ. विकास दवे : आपने श्रीरामचरित मानस को अपने जीवन की धारा बदलने वाला ग्रंथ बताया, इसके क्या आधार हैं?

राकेश शर्मा : विकास, जी इस ग्रंथ को पढ़कर मेरे जीवन में जो परिवर्तन हुआ, वही मैं आपको बता रहा हूँ। जो कुछ भी आज हूँ उसमें इस ग्रंथ की सबसे अधिक भूमिका। मेरे जैसे पता नहीं कितने लोगों का जीवन इस ग्रंथ ने बदला होगा। यह तो व्यक्तियों की बात है। अनेक राष्ट्रों की सांस्कृतिक आधारशिला इसी ग्रंथ पर टिकी है। जो लोग इसे केवल भक्ति का ग्रंथ मानते हैं वे पूरी तरह सही नहीं। अपार काव्य सौन्दर्य है इसमें।

इस ग्रंथ के साथ-साथ बाबा तुलसीदास के साहित्यिक और सांस्कृतिक दाय देखिए कि एक रचनाकार समय और समाज को कैसे प्रभावित करता है। इसीलिए और इन्हीं अर्थों में कवि को सृष्टा कहा गया है। सृष्टा का अर्थ जो अपनी मान्यताओं के अनुरूप नया समाज बनाए। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा था कि यूरोप का साहित्य पढ़ने के बाद और भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करने के उपरांत मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि धरती पर अभी तक तुलसीदास से बड़ा कोई पैदा नहीं हुआ। कवि के बड़े होने का मूल्यांकन इसी बात से होना चाहिए कि उसने कितने बड़े जन समूह को प्रभावित किया और प्रभाव भी कैसा? क्या जीवन में रूपांतरण हुआ? अगर सार्थक, निर्माणक और परिवर्तनकारी प्रभाव हुआ है तो लेखन सार्थक हुआ। केवल कागज़कारे करने वाला व्यक्ति लेखक नहीं होता। अपने समकाल में जितने लोगों को बाबा जी ने संस्कारित किया होगा, उससे बहुत गुना ज्यादा आज भी कर रहे हैं।

डॉ. विकास दवे : आपने डॉ. रामविलास शर्मा का उदाहरण दिया उनकी आस्था तो मार्क्सवाद में थी। वे तुलसी का मूल्यांकन कैसे कर गए।

राकेश शर्मा : विकास जी, यह प्रश्न बहुत गंभीर है। इसके आलोक में कठमुल्ले मार्क्सवादी और तुलसी विरोधी सब आ जाते हैं। रामविलास शर्मा इन कठमुल्ले मार्क्सवादियों से सर्वथा भिन्न दिखाई पढ़ते हैं। वे भारतीयता के उपासक हैं। उन्होंने कभी भी और कहीं भी भारतीय मूल्यों को यूरोप की अवधारणाओं के समक्ष छोटा नहीं माना। मार्क्सवाद तो उनके लिए एक टार्च थी जिसके प्रकाश में वे भारतीय समस्याओं का हल ढूँढ़ना चाहते थे। आप उनका यह कथन देखिए-''ताजमहल, तुलसीदास और तानसेन की बराबरी विश्व में कोई कर सकता है तो उदाहरण दें। इस कथन में आप देखिए एक स्थापत्यकला, एक साहित्य और एक संगीत से है। ये बड़े उदाहरण हैं। बात तुलसीदास की है तो रामविलास जी जानते हैं कि उत्तर भारत की सांस्कृतिक संरचना में बाबा जी की अमिट भूमिका है। इसी तरह निराला की मृत्यु पर राष्ट्रकवि

रामधारी सिंह दिनकर ने कहा था कि ''उत्तर भारत के लोग यह जानना चाहते हैं कि वेद और पुराणों में क्या लिखा है? वे यह जानना चाहते हैं कि इस सम्बन्ध में बाबा तुलसीदास क्या कहते हैं? और तुलसीदास के बाद हिन्दी में सबसे बड़े निराला हुए हैं। जो लोग तुलसीदास पर जातिवादी विशेषकर ब्राह्मणवादी और स्त्री विरोधी होने का आरोप चस्पा करते हैं। वे लोग उनके काव्य के अनन्त सौन्दर्य और स्थापनाओं की अनदेखी करते हैं। रामविलास शर्मा ने तुलसीदास को इसी सन्दर्भ में लिखा। किसी भी लेखक को अपने समकाल की समस्याओं के निवारण के लिए पूर्व के अनेक महापुरुषों के कार्यों का सहारा लेना होता है। रामविलास जी की एक किताब है नाम है ''गाँधी, आम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ'' अब आप विचार कीजिए कि इन नामों में इनके काल का एक बड़ा नाम छोड़ दिया गया है, 'जवाहरलाल नेहरू'। असल में नेहरू जी भारतीय इतिहास की अनदेखी करते हैं और भारत एक खोज में विश्वास करते हैं। गाँधी, आम्बेडकर और लोहिया सब भारतीय इतिहास के सन्दर्भों में समस्याओं का हल ढूँढ़ते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा की इन स्थापनाओं से मैं सहमत हूँ। मार्क्स की अवधारणा को टार्च की तरह उपयोग करना एक बात है और लालटेन की तरह सिर पर होना दूसरी बात है। भारतीय समाज की अनेक समस्याओं के हल भी मार्क्स में ढूँढ़ते रहे मगर जब उन्हें लगा कि शायद वे गलत हैं तो वापस भारतीय सन्दर्भों में आ गए। मूल बात यही है कि वे भारतीयता के प्रबल व्याख्याता हैं।

डॉ. विकास दवे : आपने अभी राष्ट्रकवि दिनकर को कथ्य से उद्धटित किया कि तुलसीदास के बाद निराला तो जयशंकर प्रसाद का अवमूल्यन नहीं होता?

राकेश शर्मा : देखिए, पहली बात ये मेरी स्थापना नहीं है। दूसरी बात जयशंकर प्रसाद, निराला से वरिष्ठ और अनन्तकाव्य सौन्दर्य वाले कवि और लेखक हैं। मैं, ''को बड़ छोट कहत अपराधू'' वाली भूमिका में नहीं रहना चाहता। प्रसाद जी अपने स्थान पर बड़े हैं उनकी तुलना किसी और के साथ नहीं की जा सकती। हमारी मान्यताएँ भी अजीब हैं। एक को बड़ा बताने का आशय दूसरे को छोटा करना नहीं होता। दोनों ही अपनी तरह से बड़े हो सकते हैं।

निराला मंचों पर उपस्थित थे। प्रसाद मंचों पर नहीं गए। हिन्दी साहित्य में किन्हीं दो रचनाकारों के सिर लड़ाने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। इसे बन्द होना चाहिए। सुना है कि कभी एक बार मंच से काव्यपाठ किया, वह भी अपने गुरु के कहने पर। देखो, लोगों तक पहुँचने उन्हें संस्कारित करने में कवि मंचों की बड़ी भूमिका है। निराला को प्रसिद्धि उनके जीवन काल में मिली। उसमें उनके द्वारा किए गए काव्य पाठों की भूमिका भी है और उनके सामाजिक अन्य सरोकार भी हैं, जैसे पत्रकारिता आदि। निराला व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा सर्वत्र हुई। प्रसाद का पथ समान होते हुए भी भिन्न है।

प्रसाद एक सर्जक की भाँति अपने एकान्त में सर्जना कर्म में लगे रहे। कामायनी जैसा दिव्य काव्य ग्रंथ बताता है कि भारतीय जीवन दर्शन में उनकी कितनी गहरी पैठ थी। यह तो निर्विवाद है कि श्री रामचरितमानस के बाद हिन्दी में कामायनी ही रखी जा सकती है। इसलिए प्रसाद और निराला में बड़े-छोटे के भाव से तुलना व्यर्थ है। दिनकर जी शायद लोक व्याप्ति को ध्यान में रखकर कह रहे होंगे। इस दृष्टि से वे सही हैं।

डॉ. विकास दवे : एक चिन्ता यह प्रकट की जा रही है कि मौजूदा पीढ़ी साहित्य ही नहीं पढ़ रही

है तब आगामी पीढ़ियाँ इन महान रचनाकारों को कैसे समझेंगीं।

राकेश शर्मा : आपकी चिन्ता साहित्य की है और मेरी चिन्ताएँ साहित्य और भाषा दोनों की हैं। साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो भाषा को गंभीरता से समझता हो। साहित्य तो भाषा का पुंकेषर होता है जिसे आप पराग कहते हैं। एक पादप के पास जड़ें, तना, शाखाएँ, पराग आदि सब होते हैं। पराग का आनन्द मधुकर लेता है। इसलिए भक्त कवियों ने अपने मन को मधुकर कह और अपने इष्ट के चरणों को कमल आदि पुष्पों की तरह माना है। पुष्प के मकरंद का आस्वाद भ्रमर लेता है। ठीक उसी तरह भाषा का मर्मज्ञ ही साहित्य का आनन्द ले सकता है। वर्तमान पीढ़ी के पठन-पाठन में भाषा की कितनी पढ़ाई हो रही है। इस पर भी तो विचार कीजिए।

उदारीकरण, वैश्वीकरण के नाम पर आपने बच्चों की भाषा की पढ़ाई का जो सत्यानाश किया है। इसका आकलन सदियों बाद होगा। आपने इंजीनियर पैदा किए, आज उनकी भरमार है। इन बेचारों को हिन्दी ही नहीं भारत की किसी भी भाषा की बारीक जानकारी नहीं है। अत: देश की सभी भाषाओं के साहित्य की वही चिन्ता है जिसे आप हिन्दी से जोड़कर देखते हैं। मेरी दृढ़ मान्यता है कि यह परिदृश्य सदा ठहरने वाला नहीं है। आदमी अपनी मूलचेतना में केवल भूख बुझाने के लिए ही नहीं पैदा हुआ है। उसकी मानवीय चेतना में वह बहुत कुछ शामिल है जो हम अपने पुरखों से देखते आए हैं। एक भाषाविहीन पीढ़ी हमने तैयार कर ली। सतह पर लगता है कि इस पीढ़ी के पास अंग्रेजी भाषा का ज्ञान है मगर, यह ज्ञान साहित्य के मर्म का समझने वाला है, इसमें मुझे शंका है।

देखो, एक बात यह भी है कि आज संस्कृत जनभाषा नहीं है, मगर संस्कृत को जानने-समझने वाले विद्वानों की कभी नहीं है। इसी तरह पाली आदि का उदाहरण है। तो यह मान लेना ठीक नहीं कि भविष्य में गुरु गंभीर साहित्य को समझने वाले नहीं रहेंगे। इसे बहुत दूर तक देखने और समझने की जरूरत है। इस धरती हर युग में हर तरह के लोग पैदा होते रहे हैं और होते रहेंगे। यह क्रम शाश्वत है।

डॉ. विकास दवे : आम पाठक तो छोड़िए आज के नए लेखक भी शायद भाषा के ज्ञान से बहुत दूर हैं। इसे आप कैसे देखते हैं?

राकेश शर्मा : देखिए, पाठक और लेखक और सब आते तो समाज से ही हैं। समाज का चित ठीक न हो तो कोई क्या करे। समाज के निर्माण का काम शिक्षा का है, राजनीति का है। इस समय सभी गड़बड़ हैं तो आप कैसे सोच सकते हैं कि लेखक भाषा, व्याकरण में सिद्धहस्त निकलेंगे। असल अब व्याकरण, भाषा और संस्कृति स्रोतों की जानकारी के बिना ही केवल अफवाहों से ही काम चल जाता है तो भला परिश्रम कौन करे।

दूसरी बात यह है कि आज पूरा समाज बहुत जल्दी में है तो लेखक भी दौड़ रहा है। इस भागमभाग का प्रभाव सर्जना के विविध पक्षों पर गहराई से पड़ा है। इसलिए आपने देखा होगा कि महाकाव्य, खण्डकाव्य, बड़ी कहानी अब शायद ही कोई लिख रहा हो। कम समय में ज्यादा पढ़ लिया जाए ऐसे लेखन पर लोगों का ध्यान है। असल में इतनी जल्दबाजी में आप युगबोध की बात नहीं कर सकते। सत्य को खोजना जल्दबाजी का काम नहीं है। पुरखों ने पूरा जीवन होम कर समय का नवनीत निकाला था। अगर आप लेखक हैं तो आपका मन और कर्म दोनों लेखक की भाँति काम करते रहें। इन दोनों के संयोग के बगैर कोई और जो कुछ

बने, लेखक तो नहीं बन सकता। लेखक वैद्य या चिकित्सक की तरह होता है, उसे अपनी छटी इन्द्री को चैतन्य कर रोग का पता लगाना होता है। यह काम जल्दबाजी में नहीं हो सकता। और यदि हड़बड़ी करेंगे तो समय की सही नब्ज नहीं देख पाएँगे और उपचार की दिशा गलत हो जाएगी।

लेखकों के दल हैं, खेमे हैं और सम्प्रदाय और कहने दीजिए कबीले भी हैं। मेरी समझ में नहीं आता यदि पहले ही आपने रंगीन चश्मा पहन लिया है तो आपको वास्तविकता कैसे दिखेगी। लेखन की संवेदनशीलता के बारे में बाबा तुलसीदास कहते हैं–'गिरा अनयन, नयन बिनु वानी'' अर्थात् जीभ के पास नेत्र नहीं है और नेत्रों के पास जीभ नहीं'' इसका मतलब हुआ कि जब तक नेत्र देखते हैं और जीभ उसे बोलती है तब वास्तविकता फिसल जाती है। अब आप विचार कीजिए कि विचारधाराओं, मूर्खतापूर्ण दुराग्रहों के चश्मे पहनकर आप अपने समय के युग सत्य को कैसे देखेंगे। उस पर भी तुर्रा यह है कि हम यथार्थ लिखते हैं। कोरा यथार्थ किसी काम का नहीं, यह प्रेमचन्द जी कहते हैं। देखिए, पत्रकारिता और साहित्य में यही अन्तर है। दोनों वास्तविकता पर ही, यथार्थ पर ही चलते हैं। पर साहित्यिक पत्रकारिता यथार्थ और आदर्श की चाश्नी में पग कर सामने आती है। इसीलिए इसका आस्वाद पत्रकारिता से भिन्न है। इस सब के लिए जो टूल्स और दृष्टि लेखक में होनी चाहिए वह उसे स्वयं पैदा करनी होती है। ओढ़ी गयी बातें सब बकवास हैं।

डॉ. विकास दवे : आप भारतीय भाषाओं की सबसे पुरानी पत्रिका 'वीणा' के सम्पादक हैं। आजकल सम्पादन में सबसे कठिन चुनौती क्या है?

राकेश शर्मा : इस प्रश्न का उत्तर दो खण्डों में होगा। जैसा कि आपने कहा कि सबसे पुरानी पत्रिका इस नाते दायित्व बड़ा हो जाता है। वीणा एक विरासत है जिसकी गरिमा की रक्षा करनी है। मुझे मालूम है कि इस पत्रिका के सम्पादकों में अम्बिका प्रसाद दीक्षित, शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिवमंगलसिंह सुमन और डॉ. श्यामसुन्दर व्यास जैसे साहित्य मनीषी बैठे हैं। इनकी यश गाथा पूरा जमाना सुनता रहा है तो एक उन सम्पादकों की बात हुई। इसी क्रम में आज 14वें नम्बर पर मैं हूँ।

इसमें एक बात और हिन्दी साहित्य में जितने भी आन्दोलन आए। वीणा ने सभी को देखा है। सभी आन्दोलनों के रचनाकारों को प्रकाशित किया है, सिवाय उनके जिनके लिए विचारधारा बड़ी चीज है और साहित्य क्षेत्र छोटा है। ऐसे लोगों को वीणा ने कभी सिर नहीं चढ़ाया। आप देखें कि हिन्दी का कोई भी स्थापित और बड़ा रचनाकार ऐसा नहीं है जो वीणा में प्रकाशित नहीं हुआ। मेरे सामने भी यही चुनौती है कि विचारधाराओं को परे रखकर ऐसी रचनाओं का चयन करें जो भारतीय, संस्कृति, सभ्यता, अस्मिता, मानव मूल्यों की बात करें और साथ ही हमारे समकाल की चिन्ताओं को भी रेखांकित करती हों। यहाँ यह भी कह दूँ कि वीणा का प्रकाशन हिन्दी साहित्य, हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के संवर्द्धन, प्रचार-प्रसार के लिए किया गया था। मेरा दायित्व क्या हम इसकी भी चिन्ता रखें।

अब बात उत्तर के दूसरे भाग की। आप देखिए कि अब हम लोग आपा-धापी के समय में जी रहे हैं। यहाँ हर किसी को बहुत जल्दी में महादेवी वर्मा, प्रेमचन्द, प्रसाद या निराला बनना है लेकिन इन लोगों के रास्ते पर चलने के लिए कोई तैयार नहीं होता। तो भाई बिना तप के साहित्य में कुछ नहीं होता। साहित्य की सत्ता में सब रस लेना चाहते हैं, बगैर ये सोचे कि साहित्य जगत किस तरह के तपस्वी की माँ

है। यहाँ हर पाँसा सीधा ही पड़ता है। बहुत खुरदरी जमीन है, साहित्य की। यहाँ चलना बहुत कठिन है। कई कलाएँ आपको साधनी होती हैं। मगर अब केवल, कागद कारे करने को साहित्य मान चुके लोगों को कौन समझाए।

सम्पादन की कठिनाई का एक उदाहरण आपको देता हूँ। आपने शायद देखा ही होगा। क्योंकि आप स्वयं भी देवपुत्र और साक्षात्कार जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादक हैं। अब उस किस्म के लेखक नुमा लोग रचना के साथ लिखते हैं कि ''किस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं, सूचित करें।'' एक और कथन देखिए... यह रचना फलाँ माह के अंक के लिए भेजी जा रही है। अब यहाँ सम्पादक के लिए कुछ नहीं बचा। उसे आदेश जारी कर दिया गया कि इसे छापिए और लेखक और लेखिका को बताइए। इस तरह सम्पादक को अपमानित करने के कुत्सित प्रयास रोज होते हैं। आप कल्पना कीजिए कि आप प्रकाशित करने योग्य ही नहीं है। प्रकाशित कीजिए।

एक और चुनौती है हमारे सामने। एक रचना को उसे कई पत्रिकाओं के ईमेल पर कॉपी कर दिया। भेज दी, कहीं न कहीं तो चल ही जाएगा सिक्का और यदि प्रकाशित हो गयी तो साफ्ट कॉपी के साथ फेसबुक पर नुमाया कर दिया और बन गए लेखक। यह फेसबुक बहुत गलत प्रश्रय दे रहा है। लोग लेखक होने का मुगालता पाल बैठते हैं। वास्तविकता यह है कि यह सोशल मीडिया की दुनिया छद्मों और पाखण्डों से भर गयी है। यह बात मैं लेखन और लेखक के सन्दर्भ में कह रहा हूँ। शेष बातों पर फिर कभी बात करेंगे।

सम्पर्क : *इंदौर (म.प्र.)*
मो. 9425321223

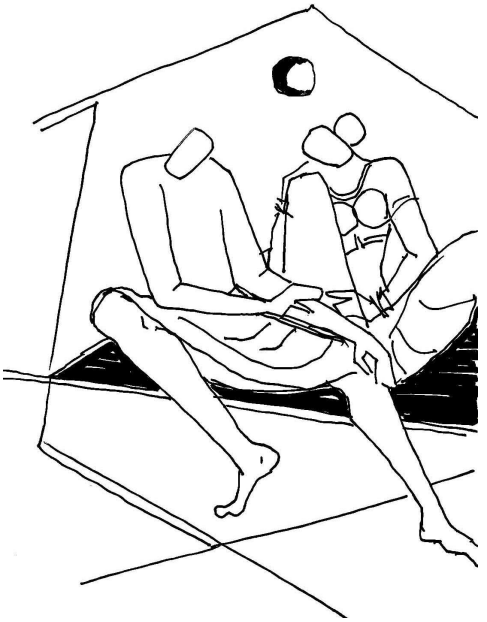

डॉ. देवेन्द्र दीपक

शब्द-शब्द बोध

डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार अपने समय के कार्यशील महापुरुषों में सबसे भिन्न थे-एक संश्लिष्ट व्यक्तित्व। साहित्यशास्त्र की भाषा में 'टाइप' नहीं, 'इंडिविजुअल'। बात कम, काम ज्यादा। जो कहना, सोच-समझ कर, नाप तौल कर कहना। भविष्य को ध्यान में रख कर कहना। यानी शब्द-शब्द बोध।

मेरे सामने उनका एक अवतरण है - 'हमारा कार्य अखिल हिन्दू समाज के लिये होने के कारण उसके किसी भी अंश की उपेक्षा करने से कार्य न चलेगा। सभी हिन्दू भाइयों के साथ, चाहे वह किसी भी उच्च या नीच श्रेणी के समझे जाते हों, हमारा व्यवहार प्रत्येक से प्रेम का होना चाहिये। किसी भी हिन्दू भाई को नीच समझकर उसे दुत्कारना पाप है। कम से कम संघ के स्वयंसेवकों के मन में तो इस प्रकार की संकुचित कल्पना को स्थान न मिले। हिन्दुस्तान से प्रेम करने वाले प्रत्येक हिन्दू से हमारा व्यवहार भाई जैसा ही होना चाहिये। लोग कैसा व्यवहार करते हैं और क्या बोलते हैं इसका कोई महत्त्व नहीं। हमारा बर्ताव अगर आदर्श हो तो हमारे सारे हिन्दू भाई हमारी ओर बराबर आकर्षित होंगे। सारा हिन्दू समाज हमारा कार्यक्षेत्र है। हम सभी हिन्दुओं को अपनायें।'

यह अवतरण एक 'बीज-पाठ' (की टेक्स्ट) है। इस पाठ का पुनर्पाठ और अन्तर्पाठ दोनों आवश्यक हैं। इस बीज-पाठ में कुछ 'बीज शब्द' (की वर्ड्स) हैं। उन बीज शब्दों में निहित गूढ़ार्थ को समझे बिना हम मर्म तक पहुँच नहीं सकते।

पहला बीज शब्द है 'अखिल'। अखिल हिन्दू समाज के उत्थान के लिये संघ प्रतिबद्ध है। देश में ही नहीं विदेशों में निवास कर रहे हिन्दू बंधु-बांधव भी इस 'अखिल' की परिधि में हैं।

आगे बढ़ते हैं तो सामने आता है - 'किसी भी अंश की उपेक्षा से कार्य न चलेगा।' डॉक्टर साहब कह रहे हैं कि 'उपेक्षा' क्यों, 'अपेक्षा' क्यों नहीं? इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अपना कोई समूह उपेक्षित और अलक्षित न रहने पाये।

डॉक्टर साहब ने 'वर्ण' या 'जाति' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसके स्थान पर श्रेणी शब्द के प्रयोग को वांछित माना। डॉक्टर साहब 'होने' और 'समझे जाने' की स्थितियों का बोध भी जगाना चाहते हैं। 'होना' अलग बात है और 'समझा जाना' अलग बात है। अनेक रूढ़ियों के कारण कुछ व्यक्ति ऊँची और कुछ निम्न श्रेणी में दृष्टिगत होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जिसे हम उच्च या नीच मानते हैं, वास्तव में वह वैसा हो ही।

आगे एक वाक्य है 'हमारा व्यवहार प्रत्येक से प्रेम का होना चाहिये।' डॉक्टर साहब का संकेत 'व्यवहार और प्रेम' को लेकर काफी गहन है। मीठी-मीठी बातें करने से काम नहीं चलेगा। आवश्यक है कि हम सोचें कि आपसी व्यवहार के स्तर पर हम किस पायदान पर खड़े हैं। विचार नहीं, विचार के साथ अनुरूप व्यवहार भी चाहिये। प्रेम शब्द के विन्यास को भी ठीक से समझना होगा। दिखावटी प्रेम नहीं, शुद्ध और निस्वार्थ प्रेम। सच्चा प्रेम। एक बात और भी-यह प्रेम 'फसली' नहीं होना चाहिये, 'मौसमी' नहीं होना चाहिये। इस प्रेम में निरन्तरता हो। टिकने वाला प्रेम! ठहरने वाला प्रेम! इसमें एक और शब्द महत्त्वपूर्ण है, वह है 'प्रत्येक'। हमारे लिये प्रत्येक हिन्दू महत्त्वपूर्ण है। हम 'सिलेक्टिव' नहीं हो सकते। इसे अपनाया, उसे छोड़ दिया। यह वृत्ति काम्य नहीं है।

आगे चलकर डॉक्टर साहब के इस पाठ में एक शब्द आता है 'पाप'। भारतीय जीवन में पाप-पुण्य की अवधारणा सनातन है। पुण्य की ओर बढ़ो, पाप से बचो। किसी भी हिन्दू भाई को नीच समझकर दुत्कारना पाप है। किसी को भी, कभी भी हम नीच न समझें, यह इस पाठ में निहित है। परस्पर सामाजिक व्यवहार में किसी को बड़ा और किसी दूसरे को नीच समझने का हमें कोई अधिकार नहीं।

पारस्परिक सामाजिक व्यवहार में प्रयुक्त एक शब्द है 'साकार'। इसकी विलोमता के लिये एक शब्द है 'तिरस्कार', एक शब्द है 'बहिष्कार'। लेकिन अवमानना का सबसे अधिक सूचक शब्द है 'दुत्कार'। दुत्कार के प्रयोग में हिंदी पट्टी में एक शब्द है 'कमीन' जो अस्पृश्य वर्ग के लिये प्रयोग किया जा रहा है। डॉक्टर साहब का आशय है कि हम अपने किसी भाई को नीच न समझें और न ही उसे दुत्कारें। दुत्कारने से हमारा हिन्दू भाई हमसे विलग ही होगा।

डॉक्टर साहब की स्वयंसेवकों से विशेष अपेक्षा है। किसी और के मन में अस्पृश्यता का भाव हो तो हो, स्वयंसेवक के मन में यह 'संकुचित कल्पना' आनी ही नहीं चाहिये। उसका सबके साथ सदाशयता और सम्मान का व्यवहार होना ही चाहिये। हर प्रकार के भेदभाव से स्वयंसेवक को मुक्त होना होगा।

वह हिन्दू ही क्या जिसे हिन्दुस्तान से प्रेम न हो। हिन्दुस्तान कहो या भारत, यह एक भू-सांस्कृतिक संकल्पना है। हिन्दुस्तान से प्रेम यानी हिन्दुस्तान के निसर्ग से, यहाँ की संस्कृति से, यहाँ की मूल्य-चेतना से, यहाँ की राष्ट्रीय चिति से, यहाँ की सनातनता से प्रेम। हिन्दू के लिये भारत-निष्ठा उसके हिन्दू होने की पहचान का पहला गुणसूत्र है।

उल्लेखनीय है कि भारत-द्रोही हिन्दू हमारे लिये हिन्दू नाम होते हुए भी हिन्दू नहीं। इसीलिये डॉक्टर साहब ने यह सूत्र दिया कि हिन्दुस्तान पर प्रेम करने वाले प्रत्येक हिन्दू से हमारा व्यवहार भाई जैसा ही होना चाहिये। 'ही' शब्द पर भी हमारा ध्यान जाना चाहिये। कोई विकल्प नहीं, एक संकल्प कि हिन्दुस्तान से प्रेम करने वाला प्रत्येक हिन्दू मेरा अपना भाई है।

समाज के दूसरे लोग हमारे हिन्दू भाई के बारे में क्या धारणा रखते हैं, उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, यह हमारी सोच-समझ और व्यवहार का अंग नहीं होना चाहिये।

एक संकेत डॉक्टर जी ने हमें और दिया और वह संकेत सफलता का मंत्र ही है। अर्थात् अपने हिन्दू भाइयों के प्रति हमारा व्यवहार प्रेम के आदर्श से संपृक्त हो तो वे निश्चय ही हमारी ओर आकर्षित होंगे, इसमें कोई संशय नहीं। मूल बात यह है कि हमारा व्यवहार सच्चा और प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

यह आवश्यक है कि स्वयंसेवकों की अपने कार्यक्षेत्र के विषय में सही समझ हो। डॉक्टर साहब हमारे कार्यक्षेत्र को परिभाषित करते हैं और आह्वान करते हैं कि सारा हिन्दू समाज हमारा कार्यक्षेत्र है। हम सभी हिन्दुओं को अपनायें।

एक शंका यहाँ सहज उत्पन्न होती है। एक ओर हिन्दुस्तान से प्रेम करने वाला हिन्दू भाई, दूसरी ओर सभी हिन्दू। इस शंका का समाधान यह कि यदि किसी हिन्दू भाई में मातृभूमि के प्रति प्रेम नहीं है तो, हमें उस बंधु के मन में मातृभूमि से प्रेम और भक्तिभाव के संस्कार जगाने के लिये भी कार्य करना होगा।

हमने इस अवतरण के सभी बीज-शब्दों और वाक्यों की व्याख्या की। इस अवतरण के शाब्दिक पाठ के भीतर निहित अन्तर्पाठ को ठीक से समझना होगा। डॉक्टर जी के हर शब्द में एक बोध है, एक दिशा है।

इस अवतरण के भाव और अन्तर्भाव के समर्थन में डॉक्टर साहब के 1932 के विजयादशमी उत्सव पर दिये गए वक्तव्य के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं - 'संघ की कार्यपद्धति में पंथ, उपपंथ, जातीय मतभेद आदि बातें उपस्थित हो ही नहीं सकतीं। संघ सम्पूर्ण हिन्दू समाज का एकता की दृष्टि से विचार करता है। संघ में छुआछूत तो कभी की समाप्त हो चुकी है क्योंकि संघ में सभी जातियों के लोग एक ही झण्डे के नीचे काम करते हैं।'

सम्यक मार्गदर्शन हेतु डॉक्टर साहब का एक और अभिकथन यहाँ उद्धृत है -'अपने निजी मान-अपमान की क्षुद्र भावनाओं का त्याग कर ममता और नम्रता के भाव से अपने सभी बांधवों के पास पहुँचें। कौन ऐसा पत्थर दिल हिन्दू होगा जो आपकी मृदु और नम्रता भरी वाणी सुनने से इनकार कर देगा?'

डॉक्टर साहब की दृष्टि आज के नेताओं की खण्ड-दृष्टि से अलग अखण्ड-दृष्टि है। भेद से अभेद की ओर चलने का परामर्श। स्पृश्य-अस्पृश्य पर पृथक से विचार क्यों? हिन्दू समाज एक सागर है और उसकी हर बूँद उसकी अपनी है।

सम्पर्क *: भोपाल (म.प्र.)*
मो. 9425679044

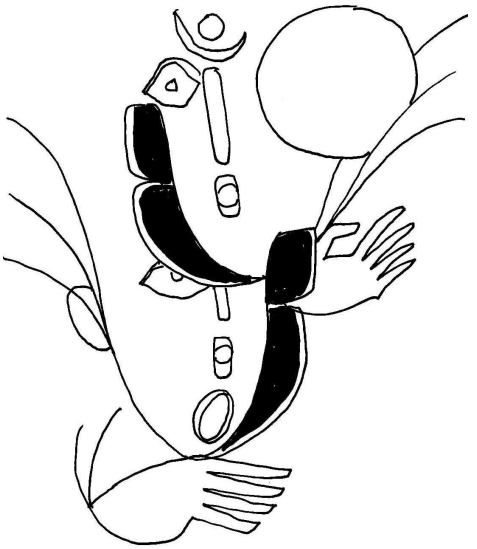

उमा शंकर चतुर्वेदी

रस की रसिकता

संसार में जिधर देखिए, उधर रस ही रस मिलेगा। रस में तो रस होता ही है, दरस, परस, रिस, अनरिस और अनरस में भी रस होता है। आदमी इतना फितरती है कि जहाँ रस न हो, वहाँ भी रस पैदा कर लेता है। प्रेम और मित्रता में तो रस है ही, आदमी तो लड़ाई, झगड़ा और गालियों में भी रस खोज लेता है। नीरस चीज में से भी रस निकाल लेता है। रस सीधे से न निकले तो दबाकर, निचोड़कर रगड़कर, मशीन में डालकर भी रस निकाल कर आनन्द प्राप्त करता है। अपने यहाँ तो गालियों में भी रस की रसानुभूति कर लेते हैं। विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली रसीली गालियों में वर पक्ष और वधू पक्ष दोनों ही रस और आनन्द की अनुभूति कर रस में निमग्न होते हैं, रस में सराबोर होते हैं। पृथ्वी के दो तिहाई भाग में जल अर्थात् रस भरा हुआ है, एक तिहाई भाग पर मनुष्य और अन्य प्राणी निवास करते हैं। समुद्र से शेष पृथ्वी पर भी रस ही रस है। जैसे ईश्वर सर्वत्र है, वैसे रस भी सर्वत्र है। पृथ्वी पर रस ही रस है, इसीलिए उसे रसा कहते हैं। पृथ्वी के नीचे भी रस का भण्डार है इसलिए उसे रसातल कहते हैं। सब प्रकार की बातों, हमारे क्रिया-कलापों, गतिविधियों में रस ही रस है। छोटे बच्चे तो दूसरों के आम, जामुन, अमरूद और गन्ने चुराकर चोरी में भी रस लेते हैं। युवा, युवक, युवतियाँ अपनी युवा अवस्था में रसानुभूति करते हैं तो बुजुर्ग लोग अपने नाती-पोतों के संग जीवन के आनन्द की रसानुभूति करते हैं।

जल को तो रस कहते ही हैं, काव्य के दस रस (वात्सल्य रस को मिलाकर) और भोजन के छः रस के अलावा भी दुनिया में अनेक रस हैं। फलों के रस जैसे आम, नींबू, सन्तरा, मौसम्बी आदि के रस के अलावा पेड़ की पत्तियों, फलों, फूलों, जड़ों, तने, छाल आदि से भी रस बनाया जाता है। जड़ी-बूटियों का भी रस निकाला जाता है जो स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है तथा अनेक बीमारियाँ रोकने में सहायक होता है। सब्जियों का रस बनाया जाता है जो स्वास्थ के लिए फायदेमन्द होता है। फूलों का रस निकालकर सुगन्धित तेल और इत्र बनाए जाते हैं। महुए, खजूर और अंगूर का रस तो बड़ा मादक होता है और उनसे अनेक प्रकार की मदिराएँ बनती हैं। खजूर के रस से गुड़ भी बनता है। गन्ने के रस का तो कहना ही क्या है, उसके लिए तो गर्मियों में जगह-जगह मधुशालाएँ खुल जाती हैं, जहाँ बैठकर लोग रसपान करते हैं। आयुर्वेद में भी अनेक रस रसायन होते हैं जिनसे बीमारियाँ ठीक होती हैं और स्वास्थ्य वर्धन भी होता है। इन सबके अलावा भी रस से इतने रस निकले हैं कि पीते-पीते और रसानुभूति करते परेशान हो जायेंगे। ये रस हैं-भक्ति रस, विरतिरस, ज्ञान रस, राग रस, प्रेम रस, राम रस, काम रस, शशि रस, रति रस, जीवन रस, यौवन रस, केलि रस, विषय रस, रास रस, मधुरस, अधर रस, चुम्बन रस, धी-रस, इन्द्रिय रस, नयन रस, दरस रस, परस रस, मिलन रस, नेह

रस, अन रस, ध्यान रस, स्वरस, लाला रस, जिव्हा रस, सोम रस, गो रस, हथ रस, पाक रस, संकोच-रस, निन्दा रस, चुगली-रस, कथा रस, काव्य रस, नाद रस, तंत्री रस, कवित्त रस, भाषा रस, अमृत रस, ब्रह्मानंद रस, बतरस, नीहित-रस, रूप रस, लावण्य रस, सुरा-रस, वृक्ष रस, समीर रस, पुष्प रस, तोरस, नया रस, ताजा रस और पुराना रस, आदि। आजकल एक नया रस पैदा हो गया है, और वह है राजनीति का रस तथा राजनीति का गाली रस। पुष्प के तीन गुणों रूप, रस, गंध में भी रस समाया हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में प्रकृति रस को ग्यारहवाँ रस माना है।

संतों ने सर्वश्रेष्ठ रस बृज रस बताया है जो ब्रह्म रस से भी बढ़ कर है। बृज रस में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों के रस समाहित हैं। सर्वत्र बृज मंडल में कृष्ण, राधा और बृजबालाओं का मधु रस, रास, रस, और केलि रस समाया हुआ है, बिखरा हुआ है। राधा स्वयं रस की खान हैं और कृष्ण स्वयं रस के आगार है, या यों कहैं कि कृष्ण ही रस हैं, वे रस राज हैं। संत कवि लिखते हैं कि 'रासत राधिका रस भरी/स्वर्ग गंगा मनहुँ भू पर नाचिबे उतरी।' राधा रसिक प्रिया हैं तो कृष्ण स्वयं रसनिधि हैं। कृष्ण जी रस के अथाह सागर हैं, जहाँ राधा डूबती उतराती रहती हैं। श्री कृष्ण ने बृज में रस का महारास, रचाया, गोपियों और राधा को रस में सराबोर किया। श्री कृष्ण ने अपने जीवन के अंतिम क्षण में एकाकीपन का वरण कर लोक मानस को निष्कपटता का रसपान कराया। पूरा बृज मण्डल ही रस में भीगा है- 'रस भीनी हैं राधिका, रस भीने घनश्याम, रस भीनी हैं सहचरी, रस भीना श्रीधाम।' हमारे पुराण कहते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म ही रस है और ब्रह्म ही आनन्द है। वस्तुतः जहाँ आनन्द होता है वहीं रस होता है। जहाँ रस है वहीं आनन्द है। आनन्द का अर्थ ही रस है और रस का अर्थ आनन्द है। तुलसीबाबा लिखते हैं कि 'सो रस जान महेश।' विद्यापति जी कहते हैं कि 'एसन रस नहिं पाओब आरा' अर्थात् ऐसा आनन्द अन्यत्र नहीं होता है और जहाँ काम रस है वहाँ राम रस नहीं होगा। हनुमान जी को रस का आधार कहा गया है इसलिए उनका एक नाम रसाधर है। उनका एक दूसरा नाम रसः है। वे रस के ज्ञाता हैं अतः उन्हें रसज्ञ भी कहते हैं। अवध में भगवान राम का माधुर्य रस बिखरा हुआ है। बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी में दो अलग ही रस हैं- एक फक्कड़पन का रस और दूसरा जिन्दादिली का रस। इन रसों के आधार और आगार तो भोले बाबा ही हैं। चंद्र किरण रस को अमृत कहते हैं तभी तो चन्द्रमा अमृत बरसाता है- 'चन्द्र किरण रस रसिक चकोरी' संतों ने दो रस बताए हैं- विषय रस और आत्मरस। आनन्द भी दो होते हैं- जगत आनन्द और ब्रह्मानन्द।

रस लिया जाता है, रस दिया जाता है, रस पिया जाता है, पिलाया जाता है। रस निचुड़ता है, निचोड़ा जाता है, निकाला जाता है। रस बहता है, झरता है, सरसता है, रस बगरता है। हम लोग अच्छे काम, अच्छी वस्तु और अच्छी बातों में रस लेते हैं। लड़ाई, झगड़ा गाली गलौज, निन्दा चुगली आदि में भी रस लेते हैं। रस की कमी नहीं है तो उधर रस के साधनों की भी कमी नहीं है। येन केन प्रकारेण हम रस का रसास्वादन कर ही लेते हैं, अधर रस तो एक संजीवनी रस है जिसे प्राणी तो क्या निर्जीव भी पान करते हैं। कवि बिहारी की नायिका की नक-वेसर के हीरे-मोती ऐसे ही भाग्यशाली हैं जो नायिका के अधर रस का पान करते हैं। वे कहते हैं- 'हीरे-मोती सीप के कौन तपस्या कीन/नक-वेसर संग बैठ कर, अधरन कौ रस लीन।' उधर विद्यापति जी की नायिका कहती है कि 'कत मुख मोरि अधर रस लीन।' भर्तृहरि जी अपने श्रृंगार शतक में कहते हैं कि 'स्वाद में क्या उत्तम है? तो उसका उत्तर है- रमणी के अधर पल्लवों

का-रस'। कि स्वाद्येषु? तदोष्ठ पल्लव रसः।' एक नायिका अपनी अँगुली की मुद्रिका से ईर्ष्या करती है और कहती है- 'लै गई रे छिंगुरी कौ रस जा मुँदरिया।' अधर रस एक देता है, दूसरा लेता है। रस पिया जाता है- 'करत अधर रस पान।' एक नायिका की सुन्दर नाक की लौंग जो नीलमणि जड़ित है, ऐसी शोभायमान है मानो चम्पा की कली पर बैठा भँवरा निसंग भाव से रस पान कर रहा है- 'जड़ित नीलमणि जग मगति, सींक सुहाई नाक/मनों अली चंपक कली, वसि रस लेत निसांक।' भँवरे रस के बड़े लोभी होते हैं जो फलों का रस चूसते हैं, चुराते हैं और पीते हैं। महामति चाणक्य लिखते हैं कि प्रेम रस से मस्त हुआ भँवरा कमल की पंखुड़ियों को नष्ट करने में समर्थ होते हुए भी कमल में छेद नहीं कर पाता है। रस पान की तीव्रता ऐसी ही होती है। भँवरा अपनी जान की बाजी लगाकर भी फूलों का रस पीता है। विद्यापति जी लिखते हैं कि 'रसमति मालती पुनि-पुनि देखि/पिवए वाह मधु जीव उपेखि' अर्थात् भँवरा रस से परिपूर्ण मालती के खिले पुष्प देखकर अपनी जान की बाजी लगाकर भी रस पान करता है। नायक-नायिका के संयोग श्रृंगार और मिलन रस में विद्यापति जी लिखते हैं कि 'औंधा चाँद कमल का रस पान कर रहा है।' रस लूटा जाता है। झूला झूलती बिहारी कवि की नायिका जब झूले से गिरती है, तो उसका नायक उसे बीच में ही उठा लेता है और उसे खड़ी करके आलिंगन कर उसका रस लूट लेता है- 'धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रसलूट।' प्रेम में रस रंग होता है और हठ करने में रस भंग होता है। विद्यापति जी कहते हैं-'हठ कएलें पहु का रस रंग।' कालिदास जी अपने मेघदूत को विदिशा होकर जाने और वहाँ वेतवा का रस अर्थात् जल पीने का आग्रह करते हैं। इसी को लोक कवि ने यों लिखा है- 'जैसे पियत अधर रस रसिया, रमणी के उपमानी/हे घन तैसे ही तुम पिइयौ, सोई वेतवा पानी।'

कुछ अज्ञानी लोग अविकसित कली का ही रस लेने लगते हैं और फिर कहते हैं कि कली में रस नहीं है। देव कवि कहते हैं कि 'अंजन सौं रंगीते निरंजन हु जाने कहा/फीकौ लागे फूल रस चाखत ही बौंड़ी कौ।' जो रस के विषय में नहीं जानता उसे क्या मालूम कि रस कैसा होता है-'तो है रस आगर नागर ढीठ/हमें न बूझिय रस तीत कि मीठ।' रस आता भी है और रस जाता भी है। हम लोग कहा करते हैं कि फलां को किसी काम या बातों में बड़ा रस आता है अथवा उसका रस चला गया, रस निचुड़ गया। रस लगता भी है और जब किसी बात का रस लगता है तो उसमें बड़ा रस आता है। रस चूसा जाता है और उस चूसने में भी रस आता है, आनन्द आता है। विद्यापति जी कहते हैं कि 'चूसि हों जो निचुरी सों परै रसु/ज्यों हटकावत औदि के ऊठा।' अधर रस के साथ नयन रस भी पिया जाता है। नयन तो मदरस से परिपूर्ण दो प्याले ही होते हैं। प्रेमियों से कवि आग्रह करता है कि-सुधारे से नैन सुधारस पीजै।' आँखों को रस के पैमाने भी कहते हैं-'नीले आसमानी रस के दो पैमाने लिए/बूझो तो ये नैना, अलि, किसके लिए हैं।' कुछ अनाड़ी लोग अधरों से रस पीकर, चूसकर उन्हें नीरस कर देते हैं। कवि विद्यापति जी कहते हैं कि नायिका के प्रवाल जैसे अधरों को नीरस और धूसर कर दिया है- निरस धुसर कर अधर पंवार।' रसिक जन ही रस का आनन्द ले सकते हैं। 'रस बूझिए रसमंत।' उधर विद्यापति जी की नायिका कहती है कि किस गँवार ने उसके अधरों को निरस कर दिया- 'अधर निरस कर कओन गमार।' कवि अम्बिकादत्त जी व्यास ने अपने मित्र द्वारा भेजे गए रस से भरपूर रसीले पके आमों की डलिया प्राप्त कर और फिर उन आमों को चूसकर, रसास्वादन कर यों धन्यवाद संदेश भेजा-'कोमल पूरे भरे रस के, अरु भोग कियौ सरसान्यौ हिया है/अम्बिका दत्त जू के ढिंग आपने भेजे हैं, आम या भेजी तिया

है।' रस में डूबकर ही रस का आनन्द लिया जा सकता है। कवि बिहारी जी कहते हैं 'तंत्रीनाद, कवित्त-रस, रसर-राग रति रंग/अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।' पाक रस अर्थात् रसोई के रस के संबंध में महामति चाणक्य लिखते हैं कि लोहे की कलछी तमाम व्यंजनों में चलती है लेकिन वह रसोई के रस को नहीं जानती है। ऐसे ही रस के अनभिज्ञ कई अनाड़ी भी होते हैं। जो रस के प्रेमी होते हैं उन्हें रसिक या रसिया कहते हैं। हनुमान जी राम कथा-रस के प्रेमी हैं। तुलसी बाबा कहते हैं कि 'राम कथा सुनिबे कों रसिया।' रस से बना शब्द रसायन है जिसका अर्थ रस का आगर या औषधि होता है। हनुमानजी के पास राम रसायन है-'राम-रसायन तुम्हारे पासा।'

रस निकलता है और रस निकाला भी जाता है। फलों, फूलों का रस तो निकलता ही है, आदमी का भी रस निकल जाता है, निचुड़ जाता है। जीवन में रस आता भी है और जीवन का रस चला भी जाता है। आँखों और अधरों में तो रस का भण्डार होता ही है, बातों में भी रस और रिस होती है। बातों में रस झरता है। रस पगी, रस भरी बातें मन को भाती हैं। इसका लालच भी होता है। बातों में जो रस होता है, उसे बतरस कहते हैं। बतरस लालच में गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण की मुरली चुरा लेती हैं। 'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।' उधर देव कवि कहते हैं- 'देव कछू अपनी बस ना/रस लालच लाल चितै भई चोरी।' सावन और फागुन में भी रस झरता है, बरसता है। तभी तो कवि कहता है कि रस बरसाता सावन आया, रस सरसाता फागुन आया।' महुए और खजूर से भी रस झरता है जो पीने में मादक होता है। नायिकाएँ तो रसीली, रसभरी, रसभीनी होती ही हैं, नायक भी रसीले होते हैं। लोक कवि कहता है कि 'मदरस चुंवतलली कौ,' तथा राधिका रसीली रस भरी।' उधर नायिका कहती है कि 'मुँदरिया तो लै दई रसीले छैल ने।' रस भरे फल, फूल, रस भरा यौवन, रस भरे रस कलश, रसीले अधर, रसीले नेत्र, रसीले बोल, रसीली अदाएँ, रसीले छैल, रसीली नार, अच्छे लगते हैं और जीवन में रस घोलते हैं। रस की बरसात होती है और रस की फाग होती है- 'देखिए यों-रंग सों माचि रही रस फाग/पुरी गलियाँ त्यों गुलाल उलीचि में।' रस गाया जाता है। विद्यापति कहते हैं- 'भनइ विद्यापति ई रस गाव।'

रस से अनेक शब्द बने हैं जो बड़े ही सरस हैं। रस से रसवन्ती शब्द बना है जो नदी के लिए प्रयुक्त होता है और युवती स्त्री के लिए भी। रस से रसघूमि बना है जिसका अर्थ है 'रस में मस्त होकर।' कवि बिहारी जी लिखते हैं 'बिहँसि बुलाय बिलोक उत, प्रौढ़ तिया रसघूमि।' रस से रसीला और रसीली शब्द बनाए गए हैं। कहीं रसीला शब्द रसीली के बहुवचन के रूप में प्रयुक्त होता है। तुलसी बाबा रसीला शब्द का प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला, कहत अनुज सन कथा रसाला' अर्थात् कृपालु राम जी परम प्रसन्न बैठे हुए छोटे भाई लक्ष्मण जी से रसीली कथाएँ कह रहे हैं।' रस निधी शब्द समुद्र के लिए प्रयुक्त होता है। रस से रस फैली शब्द बना है जो काम-क्रीड़ा के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है- 'सोवत अकेली है, नवेली केलि मन्दिर/जगाय के सहेली, रस फैली लखै टरि के।' एक शब्द है रस रंगै और रस रंग में बड़ा रस और आनन्द आता है।

खाद्य सामग्री के लिए रस से रसद बना है। उर्दू भाषा में रसद का अर्थ है देखभाल की जगह या ताका-झाँकी की जगह। रस से एक शब्द रसभरा बन गया जो एक पौधे का नाम है, जो ईख के खेत में पैदा होता है- 'बीच उखारी रसभरा, रस काहे न हो।' यों रसभरा का अर्थ रस से परिपूर्ण भी होता है। रस से

भरी को रसभरी भी कहते हैं-'नवल वसंत सॅवारी करी, भई प्रकट मानहुँ रस भरी।' रस भरी होने से जीभ को रसना कहते हैं- 'रसनँहु रसनहिं एकऊ भावा।' खाद्य वस्तु जो शक्कर में पकाई या पागी जाती है, उसे रसपगा कहते हैं। रस से भरे कलश को रस कलश कहते हैं। रस से ही रसोपासना शब्द बना है, जिसका मतलब रस या आनन्द की उपासना से है। रस से ही रसगुल्ला बना है जिसके अन्दर और बाहर खूब रस भरा रहता है। रस से ही रसिक शब्द बना है। रस के रसिक को रस-रसिक कहते हैं। तुलसी बाबा कहते हैं- 'चन्द्र किरण रस रसिक चकोरी/रवि रुख नयन सकई किमि जोरी।' रस से ही रसखान, रसधार, रसराज आदि शब्द बने हैं। एक रस बोरी शब्द होता है जिसका मतलब है रस में डुबोई हुई। बाल्मीकि जी श्री राम जी से ऐसे ही रसबोरी वाणी में अपनी बात कहते हैं- 'वाल्मीकि हँसि कहहिं बहोरी/वाणी मधुर अमिय रसबोरी।' रस से रसायन, रसबाती और रस बातनि शब्द बने हैं। कवि केशवदास जी लिखते हैं कि 'किधौ रसबातनि को रसायन राखे भरि/सोने की सुकति किधौ सुवन सुवाम में।' रस से ही 'रसके' शब्द बना है रसके से रुख शशि मुखी, हँसि-हँसि बोलत बैन।' एक शब्द रसु है जिसका मतलब स्वाद या आनन्द होता है- 'सकत न तुव ताते वचन, मो रस को रसु खोय। अनरस, अनरसु और रिस शब्द भी रस से बने हैं। 'रसमय' शब्द का अर्थ अनुरागमय होता है। बिहारी की नायिका ने अपने चन्द्रमा समान मुख पर लाल बिन्दी और केसर का आड़ा तिलक लगाकर संसार के लोगों के नेत्रों को अनुराग युक्त कर दिया है। 'रसमय किय लोचन जगत।' रसरीति का अर्थ प्रेमरीति होता है। विद्यापति जी लिखते हैं-'ननदी सयं रस-रीति बढ़ावह, गुपुत वेकत नहि होई।' रस का अर्थ मर्म भी होता है- 'भनइ विद्यापति एहरस जान/बानर मुँह की शोभए पान।' रस-रस का अर्थ धीरे-धीरे भी होता है। बाबा तुलसीदास जी लिखते हैं कि-रस-रस सूख सरित सर पानी,' अर्थात् नदी, तालाबों का जल धीरे-धीरे सूख रहा है। रस का एक अर्थ सार या निचोड़ भी होता है। रस का अर्थ मिठास भी होता है।

रस के रूप होते हैं और उन्हें रस रूप कहते हैं। रूप रस भी होता है। एक रसेश्वर शब्द भी रस से ही बना है। श्रृंगार रस का मतलब श्रृंगार भी होता है- 'मानो घनानन्द सिंगार रस सो सँवारी।/चिक में बिलोकति बहनि रजनीश की।' रस से ही रस श्रृंगार या रस सिंगार बना है-'बरनत कवि मतिराम यह, रस सिंगार की सेक।' उर्दू में रस का अर्थ पहुँचाने वाला होता है। जैसे फलक रस का अर्थ आकाश तक पहुँचाने वाला होता है। उर्दू में रस से अनेक शब्द बने हैं जैसे-रसद, रसदगाह, रसन, रसन-वाज, रसन-वाजी, रसाहल, रसाई, रसानत, रसास, रस निद, रसीद, रसूल, रसूम, रस्क, रश्के मुनीर आदि। बनारस और हाथरस में भी रस लगा हुआ है।

रस नाम से अनेक ग्रन्थ रचे गए हैं, जिसमें प्रमुख हैं- रसखान-ग्रन्थावली, रस चन्द्रोदय, रस रहस्य, रसिक मोहन, रसिक-रसाल, रसिक-विनोद, रस प्रबोध, रस-विलास, रस कुसुमाकर, रस-मंजरी रसवाद और नय रस आदि। रसखान, रसलीन, रसनिधि, रस राज आदि प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन्होंने रस काव्य भी लिखे हैं। राजस्थान के एक राजा की यौवन रस से लबरेज एक सौन्दर्यमयी रसकपूर नाम की प्रेमिका भी थी।

आयुर्वेदिक रसों का प्रयोग बीमारी दूर करने के लिए किया जाता है। कवि जगन्नाथ रत्नाकर जी लिखते हैं-'रस के प्रयोगनि के सुखद सुयोगनि के, जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई है।' रस वैद्य भी होते हैं जो

रस और रसायनों से चिकित्सा करते हैं। रस से ही रसायन शब्द बना है। भगवान के यशरूपी रस की रसिकता तो समस्त रसायनों की सार है। देव कवि कहते हैं–हरि जस रस की रसिकता, सकल रसायन सार।' शायर लोगों को उनके हकीम बीमारी दूर करने के लिए एक अलग रस उपयोग करने की सलाह देते हैं और वह रस है– मिलनरस–अर्थात् 'शर्बते–विसाल।' प्राचीन काल में देवता गण रस विभोर होकर सोमरस पिया करते थे। गोपियाँ कृष्ण के रस में रस विभोर होकर रसानन्द लेती थीं। रसिक जन ही रस का सच्चा आनन्द ले सकते हैं। विद्यापति कहते हैं–'विद्यापति ए हो रस भान/राजा शिवसिंह ए हो रस जान।' नर नारियों को अधर रस के मधुरस और रति रस की रस धार के सामने सभी रस फीके लगते हैं। इसीलिए संतजन उन्हें भगवत भक्ति रस की ओर प्रेरित करते हैं, जिससे जीवन का सही रस मिल सके। रस का मूल्य भी चुकाना पड़ता है। कवि पंत जी ने लिखा है कि–'रति से रस लोगे और विरति से उसका मूल्य चुकाओगे।' रस का संचार होता है और रस की अनुभूति होती है। रसीली प्रियाओं की रस माधुरी का जायका रसिक प्रिय गण ही ले सकते हैं। मंगल अवसरों पर रस से भरे रस कलश सजाए जाते हैं। रसीली युवतियों के भी रस कलश होते हैं।

स्नेह भी एक रस है। दीपक की ज्योति में भी रस होता है और प्रकाश में भी रस होता है। रस–राख विदा अच्छी मानी जाती है। सब तरह सौजन्य पूर्ण वातावरण में लड़की की विदा हो जाये तो उसे रस–राख विदा कहते हैं। अनुराग को भी रस कहते हैं। युवतियों के नेत्रों में शृंगार रस या प्रेम रस भरा होता है। बिहारी जी लिखते हैं कि शृंगार रस में डूबे नायिका के नेत्र कमल और खंजन पक्षी का भी मान भंग कर रहे हैं–'रस सिंगार मज्जन किए कंजन भंजन दैन/अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन।' रस हाल का अर्थ प्रसन्न या सुखी होता है– 'नैक चितौति नहीं चितु दै, रसहाल किए हू, हिए हू न खोलै।' रस से ही रसनि शब्द बना है जिसका अर्थ आभा या चमक होता है–हीरनि की भौतिन को रसनि अथैव को।' रसरी का अर्थ धीरे–धीरे होता है और रसरी का अर्थ रस्सी भी होता है। रसरी शब्द भी रस से ही बना है। रसात शब्द का मतलब 'पृथक होना' होता है जो रस से ही बना है। रसात का दूसरा अर्थ उदासीनता भी होता है– 'कहैं कवि गंग और औरऊ जू आक बाक/कहत–कहत क्यों हूँ–'क्यों हू न रसात है।' रस से बना एक शब्द 'एक रस' का मतलब एक जैसा होता है। रस से ही स्वरस बना है। रसौ या रसा पृथ्वी को कहते हैं जो रस से बना है– 'दाब दरेर तरेर अरै, रसौ घेरत आवत घोर घटाई।' रस धार जल की धारा को कहते हैं– 'वा बरसै जल धारन सौ, रस धारन याहु सतीत करी है।' रस का अर्थ प्रेमानन्द भी होता है। राम रस नमक कहलाता है जिसके बिना सभी भोजन फीके हैं और रस हीन हैं। रस से गोरस बना है जिसका अर्थ दूध, दही, मट्ठा, होता है। गोरस इतना सुलभ और लोक प्रिय होता है कि इसके लिए कहा गया है–'गली–गली गोरस बिके, मदिरा बैठ बिकाय।' गोरस का एक अर्थ इन्द्रिय रस भी होता है। गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण जी से कहती हैं– 'गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहति नाहिं।' रस का राजा भी होता है। शृंगार रस को रस राज कहा–गया है। रसज्ञ रंजन और रसवंत भी होते हैं–'रे रस बूझिए रसवंत।' पनरस एक लाल कपड़ा होता है जिससे विवाह में वर–वधू का गठबंधन होता है। एक हथरस होता है। प्रिय के हाथ की बनी रसोई या भोजन स्वादिष्ट लगता है क्योंकि उसमें प्रिय का हथरस आ जाता है। माँ के दूध को भी प्रेमरस कहते हैं। तुलसी बाबा लिखते हैं कि वन गमन के समय माता कौशिल्या ने श्रीराम को अपनी गोद में बिठा लिया और उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। प्रेमातिरेक में माता के वक्षस्थल से प्रेमरस (दूध) बहने लगा–'गोद राखि पुनि हृदय लगाए/स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए।' एक शब्द विगत रस

है जिसका अर्थ है स्वाद फीका होना। रस से ही रस भेद, रसवाद, रस निष्पत्ति और नय रस शब्द बने हैं।

रस से अनेक रसदार, रस पगी, रस भीगी, रसमोई, रसीली चीजें बनती हैं जिसका सभी आम और खास लोग रस-रस कर आनन्द लेते हैं। आम के रस से अमरस बनता है। पके आम का रस सुखाकर अमरस बनाते हैं। हाल निकाला अमरस भी पीते हैं। कच्ची कैरी को भूनकर या उबालकर उसका रस निकाल कर पना बनाकर पीते हैं जो गर्मी का शमन करता है। गन्ने के रस से रस खीर बनाई जाती है जो अति स्वादिष्ट होती है। गन्ने के रस से ही गुड़ और शक्कर बनती है। खजूर के रस से भी गुड़ बनता है। फूलों के रस से इत्र, सेण्ट आदि तो बनते ही हैं फूलों का रस कपड़े रंगाई के काम भी आता है और दवाओं के रूप में उपयोग होता है। टेसू के फूलों के रस के बगैर तो पहले होली और फाग की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। टेसू के फूल के रस से रस भरी होली खेली जाती थी। फूलों के रस से बालाएँ अपनी चुनरियाँ रंगती थीं। एक ऐसी ही रस पगी बाला का कथन सुनिए-'फुलवा बिन-बिन मैं रस गरायौ/ हौदा भरा रस होय गोरिया। बड़ी रसकेर चुनरी रंगायौ/चुनरी भई रंगदार हो गोरिया।'

जिसमें रस हो उसे सरस और बिना रस की चीज को नीरस या विरस कहते हैं- 'माधव सी सरस, माधुरी सी मधुर, फिर कैसे विरस।' सरस और विरस का संग नहीं हो सकता है। रहीम लिखते हैं-'कहु रहीम कैसे निभै केर बेर कौ संग/वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग।' हवा में भी रस होता है। समीर रस से वृक्ष आनन्दित होते हैं। कवि लिखता है कि- 'पी पीकर समीर-रस तट पर, एक वृक्ष है झूल रहा।' रस की बातें होती हैं तो रस की बातों में रस भेद भी होता है। कवि कहता है कि नई नवेली बाला रस भेद नहीं जानती है-'रस भेद न जान नई अबला' कवि विद्यापति की नायिका को उसकी सखी ने समझाया था कि 'सखी यह नया रस है, नई रस रीति है। दोनों की उम्र इस अभिनव रसरीति के लायक है अत: छक कर रस लेना चाहिए।' रसीली चीज से ही तो रस मिलता है, इसलिए जब रस मिले उसका उपयोग कर लेना चाहिए। विद्यापति जी कहते हैं कि 'ऐसन रस नहिं हा ओब आरा।' बतरस से मन नहीं भरता है, रूप रस से आँखें नहीं भरतीं, रति रस का कितना भी उपयोग कीजिए, उससे भी मन नहीं भरता है- 'कत विदग्ध जन रस अनुमोदय, अनुभव काहु न पेख।' रस सरसता भी है और रस में भी रस सरसता है- 'हँसी करत में रस रए, रस में रस सरसाय।' रस से ही रस की निष्पत्ति होती है। अत: काम रस के अलावा रामरस में भी मन लगाएँ और भक्ति रस का भी रसास्वादन कीजिए। अपने जीवन को रसमय बनाइए क्योंकि जीवन में जब तक रस है तभी तक जीने लायक होता है। नीरस जीवन जीने से क्या मिलना है? रसीली बातें कीजिए, रसीले फल खाइए, रसीली चीजों का उपयोग कीजिए। रसीली मुस्कान फेंकिए और रसीली मुस्कान का आदर कीजिए। अपनी प्रिया की रसीली चितवन के अलावा दूसरे की रसीली चितवन से बचिए। रसीली प्रिया से रस रंग करते हुए जीवन की रस धारा में रस मग्न होते रहिए। अपनी प्रिया के हाथों के षट रस व्यंजनों के आनन्द के साथ-साथ प्रिया के साथ खट रस का भी आनन्द उठाइए। जहाँ प्रेम रस होता है, खटपट भी वहीं होती है। विद्यापति कहते हैं कि-'जतहिं प्रेम रस, ततहिं दुरन्त।' अत: खटपट में रस से रसानुभूति करते रहिए। विश्व में इतना रस है कि उस पर लिखते-लिखते रस ग्रन्थ लिख जायेगा।

सम्पर्क : *भोपाल (म.प्र.)*
मो. 9826553484

डॉ. दादूराम शर्मा

महाप्राण निराला की भारत-भारती-वंदना

निराला ने 'भारती' को तीन अर्थों में ग्रहण किया है- 1. विद्या की, बुद्धि की, प्रेरणा की, वांछित परिवर्तनों की अधिष्ठात्री और प्रेरक सरस्वती, 2. मातृभाषा 3. भारत माता। 'अमर कोष' में 'भारती' सरस्वती वाणी और भाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त है-'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।'

महाप्राण ने उसे अर्थ विस्तार देकर समग्र विश्व के हृदय और प्राणों को अपने सप्राण-समुज्जवल सांस्कृतिक गौरव से अभिभूत और शक्तिमत्ता से परिपूर्ण और प्रेरित करने वाली 'भारत माता' को नवीन नव चिन्तित, सप्राण समुज्जवल और मूर्त अर्थवत्ता प्रदान की है। समग्र विश्व साहित्य में निराला का यह चिन्तन और प्राणवंत प्रस्तुतीकरण बेजोड़ है। संस्कृत वाङ्मय में 'सरस्वती-वन्दना' जो केवल उनके बाह्यसौन्दर्य और गुणवर्णन तक ही सीमित थी, उसे उनके आभ्यंतर सौन्दर्य और गुणों के प्रकटीकरण से अभिसिंचित करके महाकवि ने और अधिक भास्वर और अभिनव बना दिया है। पराधीनता काल 1928 में जब भारत अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था, तब महाकवि ने माँ वीणावादिनी से वरदान माँगा था कि वह सम्पूर्ण भारत में स्वतंत्रता के प्रिय अमर मंत्र का स्वर भर दे। जन-जन परतंत्रता के पाश को काटकर भारत को स्वतंत्र करने के लिए प्राणपण से सन्नद्ध हो जाएँ।

हे माँ, तू अंधे अर्थात् दृष्टिहीन, दिशाहीन, कर्मबोध और कर्त्तव्य-बोध से शून्य, किंकर्त्तव्यविमूढ़, दृष्टिहीनता के कारण अपने मार्ग और गंतव्य को न देख सकने वाले भारतीयों के जाड्यांधकार (जड़ता या अज्ञानतारूपी अँधेरा) से आच्छन्न (ढँके) हृदयों के (यहाँ 'अंध' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है-1. अंधा-दृष्टिहीन-अन्धोऽदृग (अमरकोष) तथा 2. अंधकार-अन्ध तमस्यपि अमर कोष) स्तर (कठोर, दृढ़) बन्धनों को काट दे-उच्छिन्न कर दे। 'दो' या दीजिए 'क्रिया' का आदरसूचक प्रयोग न करके कवि ने 'तू-तड़ाक' वाले क्रिया पद का प्रयोग किया है जो उनके माँ सरस्वती से अत्यंत निकट अंतरंग सम्बन्धों को सूचित करता है। जहाँ आदरसूचक और औपचारिक सम्बोधन नहीं होते- माँ-बेटे का संबंध ऐसा ही होता है। जब भगवान से भक्त की अत्यंत निकटता और अंतरंगता हो जाती है तब भी ऐसा ही होता है। तुलसी 'विनय पत्रिका' में लिखते हैं-तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी!'

हे माँ, हमारे हृदयों में ज्योतिर्मय (प्रकाश से परिपूर्ण) निर्झर (झरना) प्रवाहित करके कलुषों-बुराइयों, पाप-प्रवृत्तियों-को नष्ट कर दे, मिटा दे। यहाँ भेद किया पद भी है, संज्ञा पद में यह कलुष भेद

और तम (अज्ञानान्धकार) भेदभाव, अलगाव, फूट) का द्वन्द्व समास का शब्द है। अथवा- 'कलुष और भेद रूपी अंधकार' भी है) जिसको हे माँ भारती तू हर ले-दूर कर दे और उसे प्रकाश से-ज्ञान से-कर्त्तव्यबोध से भरकर 'जग' को-संसार को, विश्व को जगमग ज्योतित या प्रकाशित कर दे।

अंतिम बंध (पंक्तियों) में कवि समकालीन (अपने समय के) पराधीन और भावी स्वतंत्र भारत के लिए सर्वथा अनूठी, भव्य और नव्य याचना कर रहा है- हे माँ, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्षरत, मेरे देश को भारतीय समाज को नवीन गति प्रदान कर, और स्वाधीन हो जाने पर उसे उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए नवीन ऊर्जा से भर दे। जिस तरह नर्तक अपने नृत्य में नवीन गति और गायक अपने गायन में नवीन लय, नव ताल और नव्य नूतन छन्दों और अभिनव स्वरों का प्रयोग करके उन्हें उत्तरोत्तर आकर्षक और अभिराम बना देते हैं, उसके मेघ के समान गम्भीर स्वर से गगन को गुंजित कर देते हैं, उसी तरह मेरे स्वतंत्र भारतीयों को असीम गगन में नव मधुर कलरव करते पक्षियों के समान अनंत आकाश में उड़ने की शक्ति प्रदान कर देना और भारत को पुनः अपने खोए हुए गौरव से मंडित कर देना। 'कवयः क्रांतदर्शिनः' महाकवि क्रान्तदर्शी होता है। वह अतीत के गर्भ में प्रवेश करके अनुक्त (अनकहे) अदृष्ट (न देखे गए) प्रच्छन्न रहस्यों को जान लेता है और तथ्यों को प्रकट कर देता है, और उससे संजीवन तत्त्व लेकर वर्तमान को सँवारता है और भविष्य का पथ प्रशस्त करता है। महाकवि निराला की क्रांत दृष्टि ने पराधीन काल में ही स्वाधीनता के लिए संघर्षरत भारत की भावी भव्यता, नव्यता और उत्तरोत्तर प्रगतिशीलता के दर्शन कर लिए थे। सबसे उल्लेखनीय और बड़ी बात यह है कि कवि ने अपने स्वयं के लिए माँ भारती से कुछ भी नहीं माँगा है, माँगा है तो समष्टि के लिए-समग्र राष्ट्र के कल्याण के लिए ऊर्जा माँगी है। पुरुषार्थ करने की शक्ति माँगी है, बैठे-बिठाये बिना कुछ किए सब कुछ देने की परम्परागत याचना और प्रार्थना यहाँ नहीं है।

वर दे वीणा वादिनी वर दे! ...

अब लीजिए निराला का दूसरा भारती-भारत माता की वन्दना का पद-'भारति, जय, विजय करे-अपने धर्म से, अध्यात्म से सत्य, प्रेम, अहिंसा और सक्रिय विश्वबंधुत्व-बोध से विश्व पर विजय करने वाली भारत माता तुम्हारी जय हो। तुम 'कनकधरा' हो-धन-वैभव से सम्पन्न हो, 'शस्य धरा' हो-शस्य श्यामला हो-हरी-भरी फसलें तुम्हारे वक्ष पर सदैव लहलहाती लहराती रहती हैं अर्थात् तुम धन-धान्य सम्पन्न हो। तुम कमलधरा हो-शांति, सद्भाव, मैत्री, अनाक्रमणता, बंधुत्व, के सौन्दर्य और सौरभ से परिपूर्ण पुष्प को धारण करने वाली हो। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनंद मठ' से गृहीत इस राष्ट्र-गान में भी इसका विस्तार है- वन्दे-मातरम्,

सुजलाम् सुफलाम् मलयजशीतलाम् शस्य श्यामलाम् मातरम्। ...

तुम लंकारूपी शतदल (कमल) स्थिता हो। गरजती हुई लहरों वाला सागर बार-बार तट से टकराने वाली अपनी उत्ताल तरंगों के हाथों से तुम्हारे दोनों पवित्र चरणों को सतत् प्रक्षालित करता रहता है। पदतल पर स्थित लंका को कवि ने शतदल कमल से उपमित करके, उसकी सम्प्रभुता और सत्ता को समादर प्रदान करके अन्य राष्ट्रों को सम्मान देने की हमारी संस्कृति को रेखांकित किया है।

तुमने अपने सुन्दर शरीर पर वृक्षों, तृणों (तिनकों, दूर्वादलों) और वनों की हरित शाटिका (हरी

साड़ी) धारण कर रखी है जिसके आंचल में चित्रित (रंग-बिरंगे) पुष्प रूपी रत्न जड़े हैं। सूर्य रश्मियों से प्रकाशित जल कणों वाली गंगा रूपी मोतियों की श्वेत माला तुम्हारे कंठ की शोभा बढ़ा रही है।

तुमने हिमाच्छन्न हिमालय का श्वेत रजत किरीट (मुकुट) धारण कर रखा है। अर्थात् हिमालय भारत माता का धवल (शुभ्र) रजत किरीट है। हे माँ, प्रणव (ओंकार) तेरे प्राण हैं, तुम धर्म प्राणा हो, हिमालय पर रहने वाले सिद्ध-साधकों और तपस्वियों तथा सम्पूर्ण भारत के रहने वाले सैकड़ों-करोड़ों धर्मप्राण भारतीयों के ओंकार नाद से तुम्हारी दशों दिशाएँ मुखरित हो गूँज रही हैं।

महाकवि ने इस गीत में भारत माता का मानवीकरण (parsonification) करके उसे विद्या-बुद्धि-समन्वित सौन्दर्य की अधिष्ठात्री अथवा विद्या, ऐश्वर्य और सौन्दर्य की एकीकृत स्वरूप माँ भारती (वीणापाणि, वीणावादिनी) के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ बिना विस्तृत विवरण का सहारा लिए आसमुद्र-हिमालय भारत की भौगोलिक सीमा, प्राकृतिक सुषमा, शस्य श्यामलता एवं सांस्कृतिक उदात्तता को अपनी समग्रता में अंकित कर दिया गया है। कविता का प्रतीक एवं बिम्ब विधान बेजोड़ है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'मातृभूमि' कविता में भारत माता का न होकर 'धरती माता' का विराट चित्र अंकित हुआ है किन्तु निराला का-सा नव काव्योत्कर्ष यहाँ कहाँ? प्रस्तुत है उसका एक पद-

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,/सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।।
नदियाँ प्रेम प्रवाह पुष्प तारे मंडन हैं।/बंदीजन खग वृन्द शेष फन सिंहासन हैं।।
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।/हे मातृभूमि तू सत्य की सगुण मूर्ति सर्वेश की।।

इसके विपरीत पंत जी ने पराधीन 'भारत माता' की उदास विषण्ण मूर्ति उकेरी है...

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन, अधरों में चिर नीरव रोदन!
युग-युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में प्रवासिनी, भारत माता ग्राम वासिनी!

इस दृष्टि से निराला की यह अमर कविता जो नित्य नूतन अर्थच्छटा से संबलित है, कालजयी और चिरन्तन ही नहीं, रमणीय भी है। रमणीय का अर्थ है- प्रतिक्षण नवीनता धारण करने वाली- क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपम् रमणीयतायाः। पूरा पद प्रस्तुत है-

भारति, जय, विजय करे! कनक-शस्य-कमल धरे!...
...ध्वनित दिशाएँ उदार, शत मुख-शत रव-मुखरे!

'वन्दू पद पुकार तव' पद के निराला जी ने लाक्षणिक और सांकेतिक शैली में स्वल्प (अत्यंत थोड़े) शब्दों में मातृभाषा (हिन्दी) की वन्दना की है- 'हे माँ, मैं तुम्हारे सुंदर पदों की- अमीर खुसरो, विद्यापित, जायसी, कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान कवियों ने जिसकी सप्राण मूर्ति गढ़ी है। अपनी सुन्दर पद रचनाओं से जिसकी ज्योतिर्मय प्रतिमा बनाई है, मैं तुम्हारे उन पदों की, गीतों की वन्दना करता हूँ! नवीन छन्दों में विरचित ये पद-ये गीत स्वरों का गौरव हैं- स्वरों की-भावों की भव्यता, नव्यता और प्राणवत्ता प्रकट करते हैं। हे मातृभूमि की भाषा, हिन्दी तुम मेरे माता-पिता की माता हो- उनके भी पूर्वजों (उनके भी माता-पिता) की माता हो। तुम्हारी उत्तरोत्तर नियमित, गतिशील और जीवंत परम्परा है, उसमें नित्य नूतनता का वरण करने वाली रमणीयता है, स्वरों की गरिमा है, अमर स्वरता है।

हे ज्योति-स्तर वासे, प्रकाश की नित्य गतिशील, जागरण मंत्र से भरी किरणों में तुम निवास करने वाली हो, तुम जागो, क्रियाशील होकर-नवीन कवियों की लेखनी से निकलकर नव अम्बर (नवीन जागृत राष्ट्र) को प्रकाश से भर दो। वांछित प्रगति पथ पर प्रेरित कर दो-अग्रसर कर दो। मेरे द्वारा सृजित तुम्हारे पदों-कविताओं-रचनाओं में-उठने वाली, गुंजित होने वाली-मुखर स्वरलहरियो! तुम कोयल के मधुर-प्रेरक-मादक स्वर की तरह नवीन दिशाओं में छा जाओ-समग्र राष्ट्र को जागरण और प्रेरणा का मंत्र दे दो। 'दिक्कुमारिका' शब्द कविता का बोधक है, जो अनंत सम्भावनाओं से भरी होती है, नित्य नवीन होती है, अछूते, अनुक्त (अनकहे) अप्रकटित भावों को प्रकट करती है, अदृष्ट और अदृश्य को साकार करती है... नई-नई कल्पनाएँ और विचार उसे समृद्ध करते हैं और आगे भी करते जाएँगे।

हे माँ, मेरे राष्ट्र के जन-जन की दृष्टि को रंजित कर दो-अपने सपनों को साकार करने की क्षमता से भर दो। उनमें ऐसा अंजन लगा दो सम्यक दृष्टि से-अज्ञानता-अंधकार को उच्छिन्न करके ज्ञान के प्रकाश से भर दो और प्रगति पथ पर अग्रसर कर दो। नव जागृत राष्ट्र को ऐसी शक्ति दो कि वह वासना पाश को-अपने व्यक्तिगत काम, क्रोध, लोभ, मोह मद-मत्सर रूपी रिपुओं के आकर्षण पाश को तोड़कर फेंक दे और शुद्ध बुद्धियुक्त होकर राष्ट्र की प्रगति में सन्नद्ध हो जाए। भारतीयों की प्रत्येक दृष्टि में विद्यमान सुछबि-सुंदर निष्कलुष परिकल्पना और भावना कार्य रूप में परिणत होकर चराचर जगत को बाँध कर अपने साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर कर दे।

इस तरह कवि ने गागर में सागर भरने वाले अपने स्वल्प सांकेतिक शब्दों में भाषा की -अत्यंत ऊर्जस्वित शक्तिमत्ता, क्षमता और क्रियाशीलता को प्रकट किया है। सम्पूर्ण पद इस प्रकार है-

वन्दूँ पद सुंदर तब, छन्दनत सुर गौरव!
जननि, जनक-जननि जननि, जन्मभूमि-भावे। ...
...दृग-दृग की बँधी सुरुनि बाँधे सचराचर भव।

सम्पर्क : *सिवनी (म.प्र.)*
मो. 8878980467

दानबहादुर सिंह

हिन्दी आलोचना के प्रवर्त्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा

रीतिकाल का अवसान और भारतेन्दु का अभ्युदय हिन्दी साहित्य के लिए नए-युग का सूत्रपात कहा जा सकता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कार्यकाल में हिन्दी का वास्तविक विकास-कार्य आरम्भ हुआ। उनके संपादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। उसमें शर्मा जी ने दो अथवा दो से अधिक कवियों की रचनाओं में समानता दिखाते हुये उनपर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया। उनके इस प्रकार के कुछ लेख हैं- 'बिहारी और फारसी कवि शेख सादी की समालोचना', भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य', 'भिन्न भाषाओं के कवित्व का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव।' बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन, 'गाथा-सप्तशती और बिहारी सतसई', 'आर्यासप्तशती और बिहारी-सतसई', 'आर्यासप्तशती और कालिदास' आदि। मिश्रबन्धु, पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन इस युग के प्रसिद्ध समालोचक थे। अपने गहन अध्ययन, प्रखर प्रतिभा तथा अप्रतिम शैली के कारण शर्मा जी ने विशेष ख्याति प्राप्त की। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के तो वह प्रवर्त्तक ही माने जाते हैं। उनके कार्यों में 'बिहारी की सतसई तुलनात्मक अध्ययन' (बिहारी की सतसई पहला भाग) जिसमें अनेक दृष्टियों से 'बिहारी सतसई' के दोहों की संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी आदि के समान छन्दों से तुलना की गई है। शर्मा जी को इस ग्रन्थ पर 1980 वि. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागराज द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक से सम्मानित किया गया था। भक्त ग्रन्थ से 'बिहारी सतसई' के एक दोहे की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत है-

दोहा-तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझे चुकत नहिं बंक बिलोकनि बान।।

पद्य-मुग्धे! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यासि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः।।

उपर्युक्त पद्य में कहा गया है कि मुग्धे! तुझे यह कैसी अपूर्व धनुर्विद्या आती है जिससे तू गुणों से ही चितों को बींधती है, वाणी से नहीं।

पद्य केवल 'गुणैः' पद में एक जरा-सी करामात है, जिससे यह साहित्य संसार में अच्छी प्रसिद्धि पा गया है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है, गुण का अर्थ है सौन्दर्य आदि और कमान की डोरी। अब जरा तुलनात्मक दृष्टि से देखिए। बिहारी का दोहा करामातों की खान है, कि नहीं।

पद्य के पूर्वार्द्ध का भाव 'तिय कित कमनैती पढ़ी' दोहे के इस एक पाद में आ गया है। अब इसके आगे इस प्रश्न की व्याख्या कमनैती की अपूर्वता-आरम्भ होती है। इस कमनैती में भौंह की कमान तो है, पर उस पर जिह (ज्या) डोरी नहीं है। 'बंक बिलोकनि बान', बाण है तो तिरछे टेढ़े (तिरछी नज़र) यह तो कमनैती की सामग्री है- बिना डोरी की कमान और टेढ़े बान-और लक्ष्य (निशाना) है अलक्ष्य 'चल चित।' निमेश मात्र जिसकी गति नहीं रुकती, संसार भर के चंचल पदार्थ जिसके सामने पंगु हैं, खुर्दबीन और दूरबीन से भी जो दिखाई नहीं पड़ता, ऐसा चंचल चित्त है निशाना। इस पर भी वार खाली नहीं जाता 'बेझे चुकत नहिं' दिले-बेकरार विंध तो जाते हैं, मजाल है निशाना जरा चूक जाये! इसका नाम है विचित्र कमनैती!

दुष्यन्त के सेनापति इतने को ही धनुर्धारियों का उत्कर्ष मान बैठे थे कि भागत-दौड़ते जंगली जानवरों का निशाना ठीक बैठ गया, और बस।

उत्कर्षः सच धन्विनां यदिषवः सिद्धयन्ति लक्ष्ये चले'-'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'

वह बिहारी की इस कमनैती का करतब देखते तो जानते कि उत्कर्ष इसमें है, उसमें तो खाक नहीं-

'बड़े मूजी को मारा नफ़ से अम्मारह को गर मारा।
निहंगो अजदहाओ शेरे नर मारा तो क्या मारा'।-जौक

(मूजी-अकारण बैरी, दुःखदाई। नफ़से-अम्मारह-मन, निहंग-नक्र, मगर। अजदहा-अजगर)

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने पण्डित पद्मसिंह शर्मा की सर्वाधिक प्रसिद्धि का कारण उनकी तुलनात्मक आलोचना को बतलाया है। वे लिखते हैं-पद्मसिंह शर्मा तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्धों में भी उन्होंने प्रायः इसी पद्धति को अपनाया है। उनकी शैली प्रशंसात्मक और प्रभावपूर्ण है, साथ ही उनमें खण्डन-मण्डन की विशेष क्षमता थी। उनके चुस्त और चुभते हुए वाक्य विशिष्ट शैली की सृष्टि करने वाले हैं। डॉ. नगेन्द्र ने उनके बारे में लिखा है; द्विवेदी युगीन समीक्षकों में पण्डित पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष रूप से बहुचर्चित रहा है। हिन्दी समीक्षा के प्रारम्भिक काल में जिस तुलनात्मक समीक्षा का उद्भव हुआ, उसके प्रवर्त्तक शर्मा जी ही थे। शृंगार के रस राजत्व को प्रतिष्ठित करने तथा बिहारी के काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने की दिशा में आपका योगदान अविस्मरणीय है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा को साहित्य में श्लील-अश्लील तथा अतिशयोक्ति स्वभावोक्ति की अवधारणाओं के क्षेत्र में गहरी पैठ थी। डॉ. नगेन्द्र (सम्पादक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-525)। लगभग संवत् 1960 वि. में विद्यावरिधि पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'बिहारी सतसई' पर एक टीका लिखी थी। उसे सब प्रकार से उत्तम घोषित किया गया था। कालान्तर में उस टीका को निकृष्ट कोटि का माना गया। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने उक्त टीका को भलीभाँति देखा और उसका खण्डन किया। 1910 ई. में 'सरस्वती' में एक लेख 'सतसई-संहार' लिखा। संवत् 1980 वि. में इसी नाम से नायक नागला चाँदपुर (बिजनौर) से प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक में पण्डित पद्मसिंह शर्मा एक प्रखर आलोचक के रूप में उभरते दिखाई दिये। उनकी पकड़ अनोखी है। उनकी तीव्र दृष्टि दोषों को तुरन्त पकड़ लेती है और वे मूल भाव की तह तक जा पहुँचते हैं। उनका चिन्तन प्रगाढ़ था। गूढ़ गम्भीर विषय को भी वे हास्य-व्यंग्य

का पुट दे कर सहज ग्राह्य बना देते थे।

तुलनात्मक आलोचना की उपयोगिता चाहे जितनी हो, पर इसकी विश्लेषण-पद्धति को संदेह की दृष्टि से ही देखा गया है। ऐसा इसलिए है कि पूर्वाग्रह से मुक्त होने के फलस्वरूप इसमें किसी कवि, काव्य के मूल्यांकन में खटकने वाला दोष रह जाना भी संभव है। इसमें समीक्षक एक कवि को श्रेष्ठ बतलाने के लिए अन्य को श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा कहने में भी नहीं चूकता है। शर्मा जी नाना भाषाओं विशेष रूप से संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिन्दी के भी विद्वान थे। संगीत कला में भी उनका रुझान था। कविवर बिहारी के प्रति सर्वाधिक आकर्षण का कारण था सतसई में भाषा चमत्कार, शब्दों और सूक्तियों की लावण्यता श्रृंगार-रस की बाहुल्यता और अभिव्यक्ति की कुशलता आदि। महामना मालवीय जी ने शर्मा जी के पाण्डित्य से प्रसन्न होकर उन्हें अनेक बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद के लिये आमंत्रित किया था। किन्तु वह वहाँ अपनी सेवाएँ नहीं दे सके। वह अपने जीवन में केवल गुरुकुल काँगड़ी में ही हिन्दी विषय के प्राध्यापक के रूप में बने रहे। वह 1928 में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए। 1932 ई. में हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयागराज के अनुरोध पर अपना एक आलेख हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी पढ़ा और उसे अब तक का अद्वितीय आलेख स्वीकार किया गया। वह 07 अप्रैल 1932 को दिवंगत हो गए। शर्मा जी स्वभाव से मृदुभाषी, सहृदय एवं विनीत स्वभाव के थे। उनके भीतर किसी के प्रति यदि क्रोध आ गया तो वह उसकी जड़ खोद डालते थे। 1920 और 1930 ई. के बीच बिहारी और देव की तुलनात्मक गरिमा के संबंध में हिन्दी जगत् में बड़ा विवाद छिड़ा। बिहारी के पक्ष में थे काशी के लाला भगवानदीन और देव के पक्ष में थे लखनऊ से मिश्र बन्धु। दोनों ओर से बड़ी गरमा-गरमी चल रही थी। यहाँ तक कि कानपुर के 'प्रताप-पत्र' ने एक व्यंग्य चित्र भी प्रकाशित कर दिया था, जिसमें एक ओर लाला भगवानदीन और दूसरी ओर मिश्र बंधु अखाड़े में ताल ठोंकते चित्रित किये गये थे।

कविवर बिहारी रीतिकाल के महाकवि कहे जा सकते हैं और संपादकाचार्य पद्मसिंह शर्मा 'बिहारी सतसई' के अद्वितीय अनुसंधान कर्ता कहे जा सकते हैं। उन्होंने बिहारी के दोहों का बड़ी गहराई से अनुसंधान किया है। बिहारी के एक दोहे से बात स्पष्ट हो जाती है:-

'मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित-दुति होय।।

आचार्य जी के अनुसार श्रृंगार-रस प्रधान बिहारी सतसई का यह आशीर्वादात्मक मंगलाचरण है। तन, झाँई और हरित-दुति में से प्रत्येक के तीन-तीन अर्थों से तीन तरह की अर्थ योजना तो की ही है, इसे बहुत से लोग जानते हैं। रत्नाकर जी ने भी इसका उल्लेख किया है। हरिचरणदास ने भी अनेक संकेत स्पष्ट किये हैं। शर्मा जी ने घण्टानुरणन न्याय से न जाने कितनी अर्थ परतों को उघाड़ा है। 'हरित-दुति' को ही लें-यत्न पूर्वक पुनः-पुनः अनुसंधान करें। हरित-दुति अर्थात् 'हरा होना' एक मुहावरा भी है। रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग भी है और निरा अभिधात्मक प्रयोग भी। हरितदुति का हृत-द्युति भी है। शर्मा जी और यत्न-पूर्वक अनुसंधान करते हैं और कहते हैं 'हरितद्युति न चम्पकवर्णी राधा की है और न घनश्याम की। किन्तु इन दोनों के राधा-श्याम के मेल से शान्ति पद हरित वर्ण की उत्पत्ति है। इस अर्थ से कवि का भाव

यह ध्वनित होता है कि शक्तिशून्यब्रह्म अथवा ब्रह्मविरहित शक्ति की उपासना में शान्ति नहीं है। जो भक्त जनशक्ति के विशिष्ट ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वह भव-बाधा से छूट कर शान्ति पाते हैं। यह अर्थ वहीं यत्नपूर्वक पकड़ सकता है जो निम्बार्क सम्प्रदाय के आराध्य युगल का रहस्य जानता है। शर्मा जी का कहना है कि 'हरा होना' और सरस कहना एक ही बात है। जिस पदार्थ में रस होता है, वही हरा कहलाता है। जैसे हरी टहनी। इससे यह भाव प्रकट होता है कि राधा जी की छाया से, कृपा से श्रीकृष्ण सरस होते हैं-रसिक बिहारी कहलाते हैं।' शर्मा जी में सरस दोहन की अद्‌भुत क्षमता थी और वह सहृदय शिरोमणि और सहृदय आलोचक भी थे।

आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा ने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने संस्कृत साहित्य में विशेष रूप से अष्टाध्यायी का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया था। जिससे उन्हें व्याकरण का अच्छा ज्ञान था। उनके दिवंगत होने पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत में श्लोक बनाकर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

'याते दिवं त्वयि सुहृद्‌वर पद्‌मसिंह।
तत्रैव सा सुजनताऽपि गर्तव मन्ये।।'

अर्थात् हे श्रेष्ठमित्र! पद्‌मसिंह तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर मुझे लगता है कि सज्जनता भी वहीं चली गई है। अब संसार से सौजन्य का मानो अभाव-सा हो गया है। आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा ने वास्तव में अपने सुसंस्कृत व्यक्तित्व से आजीवन उस सौजन्य का प्रमाण भी दिया। एक बार जब उनके किसी निन्दक ने पत्र में उन्हें अनेक दुर्वचन लिखे, तब उसे प्रत्युत्तर में कोई दुर्वचन न लिखकर केवल यह श्लोक लिखकर भेजा:-

'अस्मानवेहि कलमानलमाहतानाम्,/येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव।
स्नेह विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति,/ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते।।

अर्थात् हमें तुम वे (धान अक्षत, चावल) समझो जो मूसल के प्रचण्ड आघात पर आघात खाने पर भी श्वेतता (श्लेष से सात्विक सौजन्य) ही प्राप्त करते जाते हैं। हम वे तिल नहीं हैं जो जरा सी पीड़ा पेरने से स्नेह (तेल) छोड़कर खलता (खली बन जाना श्लेष से दुष्टता) को प्राप्त हो जाते हैं। उन्होंने 1961 वि. में गुरुकुल काँगड़ी में और 1966 वि. से 1974 वि. तक संस्कृत महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन किया। संस्कृत के उद्‌भट विद्वान होने के नाते आर्य समाज ने उन्हें 1961 में उपदेशक नियुक्त किया था। उन्होंने संस्कृत के प्राचीन कवियों और संस्कृत साहित्य शास्त्र के सभी ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें संस्कृत व्याकरण, दर्शन, काव्य शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र आदि का अच्छा बोध था। पण्डित जी अपने युवाकाल में ही सभी प्रकार के धर्मग्रन्थों, वेदों, पुराणों, स्मृति ग्रन्थों, उपनिषदों आदि का गहन अध्ययन किया था। उनकी स्मरणशक्ति अत्यन्त कुशाग्र थी। उनका अध्ययन इतना प्रगाढ़ था कि हिन्दी और संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने से डरते थे। आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा के साहित्यिक प्रतिमानों के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं: 'उस साहित्य परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्‌घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्यासप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा-पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी

विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्‌घाटन भी साहित्यिक समीक्षा का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने इन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहास किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया वह एक अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद मिश्रबन्धुओं ने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। सन् 1910-11 में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। तदन्तर उनका दूसरा ग्रन्थ 'मिश्र बन्धु विनोद' (इतिहास ग्रन्थ) प्रकाश में आया। यह एक प्रकार से विशुद्ध समालोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें हिन्दी के पुराने कवियों की कृतियों की समीक्षा छपी थी। किन्तु लोग उसे देखकर प्रसन्न नहीं हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो साफ कह दिया है, कि उनकी समालोचना से समालोचकों का विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय नहीं मिलता। उन्होंने उदाहरण दे-देकर सिद्ध किया कि इस ग्रन्थ में बहुत-सी बे-सिर पैर की बातें भरी हुई हैं तथा कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो भी हिन्दी नवरत्न का अध्ययन करेगा वह निराश ही होगा। इस प्रकार से देखा जाए तो वह समय हिन्दी समीक्षा की शुरुआत थी। इसी समय हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में पण्डित पद्‌मसिंह शर्मा का अविर्भाव हुआ। उन्होंने बिहारी के दोहों पर भाष्य तथा आलोचना दोनों ही लिखी। समालोचना तो सन् 1910 में 'सरस्वती पत्रिका' में सतसई संहार नाम से वर्ष भर तक निकलती रही पर विस्तृत आलोचना और भाष्य 7-8 वर्ष बाद लिखा गया जो 'बिहारी सतसई' नाम से सन् 1918 (सं. 1975) में काशी के ज्ञान मण्डल द्वारा प्रकाशित हुआ। पहले भाग में भाष्य की भूमिका रूप तुलनात्मक आलोचना सतसई का सौष्ठव और सतसई संहार सम्मिलित है। दूसरे भाग में सतसई का भाष्य है।

शर्मा जी विशुद्ध साहित्यानुरागी विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी और भाषा काव्यों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। हिन्दी कविता, संस्कृत कविता के सामने उन्हें अशक्त नजर आती थी। हिन्दी भाषा की कविता में ऐसा मनमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका उन्हें विश्वास न था कि उन्होंने अचानक बिहारी के दोहों का अनेक बार विधिवत पढ़ा। तुलनात्मक दृष्टि से भी देखा। संस्कृत, प्राकृत, उर्दू और फारसी की कविता की बराबरी में भी रख कर देखा। अन्ततोगत्वा उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बिहारी अपने क्षेत्र में अकेले हैं। जिन्होंने इस प्रकार के दोहों की संरचना की है। उन्होंने इस संदर्भ में अनेक विद्वानों से विचार-विमर्श भी किया। इस तरह बिहारी की कवित्व-शक्ति से अभिभूत हो पद्‌मसिंह शर्मा चुप न रह सके- 'ऐसी दशा में महाशय! यदि मैं बिहारी के विषय में कुछ कहने लगा हूँ तो सच समझिए केवल इसी विचार से कि ऐसे अवसर पर चुप रहना सहृदयता के हृदय में चुभने वाला असहय शल्य है। अक्षम्य अपराध है। कवि तार्किक शिरोमणि श्री हर्ष की आज्ञा है- वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।'

हिन्दी आलोचना की विवेचना करते समय तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक पण्डित पद्‌मसिंह

शर्मा का नाम कदापि भुलाया नहीं जा सकता। उनके जैसी प्रतिभा आज के हिन्दी आलोचकों में नहीं दिखाई देती। आचार्य प्रवर पं. रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, गणपति चन्द्र गुप्त, नामवर सिंह जैसे उद्‌भट आलोचक पाश्चात्य आलोचना शास्त्र से जुड़े रहे और उनके ऊपर पाश्चात्य देशों में हो रही आलोचना का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा। इनमें से अधिकांश आलोचक प्रगतिशील आलोचना से प्रभावित भी रहे। जब कभी पं. पद्‌मसिंह शर्मा का नाम आएगा तो वह तुलनात्मक आलोचना के जनक अवश्यमेव कहे जाएँगे। उनके ऊपर न तो पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव पड़ा और न ही वामपंथी आलोचना शास्त्र का। हाँ, अलबत्ता वह संस्कृत साहित्य-शास्त्र की आलोचना पद्धति से अवश्य प्रभावित रहे। बिहारी सतसई पर भाष्य करते समय संस्कृत में लिखे गए, ग्रंथों का आलोड़न-विलोड़न अवश्य किया था। 'अमरूक शतक' 'गाथा सप्तशती' का भी अध्ययन अवश्य किया था। वैसे उन्होंने संस्कृत व्याकारण और साहित्य शास्त्र का अध्ययन बड़ी गम्भीरता से किया था। बिहारी के ऊपर उनका किया गया अनुसंधान कार्य आज भी अद्वितीय कहा जा सकता है। वास्तव में वह एक परंपरावादी आलोचक थे। टी.एस. इलियट के शब्दों में 'उनका विश्वास था कि कोई भी रचना परंपरा से पृथक नहीं होती। यही नहीं परंपरा का अर्जन एकनिष्ठ साधना द्वारा ही सम्भव है और यही साधना एक ओर प्राचीनता के मोह और दूसरी ओर नवीनता की सजगता में उसे बाँध रखती है अर्थात् भूत और वर्तमान के संतुलन को बराबर बनाए रखती है।'

आलोनाचार्य पं. पद्‌मसिंह शर्मा एक प्रखर सम्पादक भी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक समाचार पत्रों जैसे, 'परोपकारी', 'अनाथ रक्षक', 'भारतोदय', ज्ञान मण्डल से प्रकाशित ग्रन्थों का संपादन आदि करते रहे।

Tradition is a matter of much wider significance. It can not be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour.-T.S.Eliot's Selected Essaya, page 14.

कहने को यह भी कहा जा सकता है कि उनके मन में बिहारी की महिमा के प्रति आग्रह बुद्धि थी, परन्तु इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जहाँ भी बिहारी का महत्त्व प्रतिपादित किया है, सर्वत्र सकारण ही किया है, गुण को गुण कहा हैं और ऐसे प्रसंग, उदाहरण, सादृश्य, तुलनाएँ और समर्थन संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी और हिन्दी के व्यापकतर साहित्यिक, क्षितिज से खोज कर लाए हैं कि उनकी पहुँच, योग्यता और क्षमता तथा व्यापक पाण्डित्य की सराहना करते ही बनती है।

सम्पर्क : *रीवा (म.प्र.)*
मो. 9713834483

डॉ. गजानन चव्हाण

महाराष्ट्र के निर्माण में वारकरी संप्रदाय का योगदान

व्यवसाय या उद्योग राजनीति, धर्म, संस्कृति, कला और शिक्षा मनुष्य जीवन के प्रमुख क्षेत्र हैं। इतिहास साक्षी है कि किसी शूरवीर तथा प्रजाहितदक्ष राजा, किसी असाधारण कर्तृत्व संपन्न महात्मा, किसी नूतन विचार-सरणि, किसी धर्म-संप्रदाय तथा कला क्षेत्र के किसी आंदोलन द्वारा ये क्षेत्र प्रभावित एवं परिवर्तित होते हैं। कभी-कभी यह प्रभाव और परिवर्तन इतना मूलगामी, मानवी विकास के लिए इतना अनुकूल और इतना व्यापक होता है कि उससे जनजीवन अंतर्बाह्य आंदोलित हो उठता है। तब यह आंदोलन एक प्रांत तक सीमित नहीं रह जाता। प्रांतीय सीमाओं को लाँघकर देश के दूसरे प्रांतों में उसका प्रवेश वहाँ के जन-जीवन को भी कम-अधिक मात्रा में प्रभावित एवं प्रेरित करता है। महाराष्ट्र के राजनीतिक क्षेत्र में छत्रपति शिवाजी, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, सामाजिक क्षेत्र में महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, न्यायमूर्ति रानडे, विट्ठल रामजी शिंदे, ज्ञान एवं शिक्षा के क्षेत्र में आगरकर, कर्मवीर भाऊराव पाटील, महर्षि कर्वे, डॉ. बाबा साहब आंबेडकर आदि महापुरुषों ने जो कार्य किया उससे महाराष्ट्र के इतिहास को एक नई दिशा मिली। कालांतर में इन महापुरुषों के कार्य का प्रभाव देश के दूसरे प्रांतों में भी पहुँचा और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उसने राष्ट्रीय जीवन को भी प्रभावित किया।

जहाँ तक महाराष्ट्र के धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र की बात है, वारकरी संप्रदाय के संतों तथा उनके साहित्य से वह इतना प्रभावित है कि लगभग सात सादियों बाद भी वह प्रभाव न केवल टिका हुआ है, बल्कि देश-विदेश के जिज्ञासुओं के आकर्षण का केंद्र बना हुआ है। उनके साहित्य के मूलगामी, व्यापक एवं दूरगामी प्रभाव तथा महाराष्ट्र के निर्माण में उसके योगदान का विवेचन ही इस आलेख का उद्देश्य है।

वारकरी संप्रदाय का स्वरूप : वारकरी संप्रदाय भारतीय धार्मिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। महाभारत में कृष्ण भगवान ने अर्जुन को कर्म का जो उपदेश दिया वह गीता में शब्दबद्ध है। श्रीकृष्ण को उपास्य मानकर तथा गीता को प्रमाण मानकर जो संप्रदाय बना वह भागवत धर्म कहलाया। महाराष्ट्र के संतों ने इसी भागवत धर्म के आधार पर वारकरी संप्रदाय के रूप में विशाल मंदिर बनाया। संत ज्ञानेश्वर द्वारा लिखित गीता-भाष्य अर्थात् 'ज्ञानेश्वरी' इस विशाल मंदिर की नींव है। इस महान

ग्रंथ में ज्ञानेश्वर ने गीता की युगानुकूल, सर्वसमावेशक तथा सर्वजन-सुलभ व्याख्या की जो महाराष्ट्र के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को नया रूप देने में सफल हुई। फलतः ज्ञानेश्वर वारकरी संप्रदाय के प्रवर्तक कहलाए। ज्ञानेश्वर के पश्चात् संत एकनाथ ने इस संप्रदाय को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। वारकरी संप्रदायरूपी विशाल मंदिर के निर्माण में महाराष्ट्र के समस्त संत मंडलों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। संत बहिणाबाई ने इस योगदान को एक रूपक में स्पष्ट किया है-

'ज्ञानदेवे रचला पाया। उभारले देवालया।।
नामा तयाचा किंकर। तेणे केला हा विस्तार।।
जनार्दन एकनाथ। खांब दिला भागवत।
तुका झालासे कळस। भजन करा सावकाश।।'

(संत ज्ञानेश्वर ने इस मंदिर की नींव डाली। संत नामदेव उनके दास हुए। उन्होंने मंदिर का विस्तार किया। संत एकनाथ ने इस मंदिर को खंभा अर्थात् आधार स्तंभ दिया। संत तुकाराम इस मंदिर के कलश हुए।)

वारकरी संप्रदाय को लोकप्रिय बनाने वाले संतों की लंबी मालिका है। ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, सोपान देव, मुक्ताबाई, नामदेव, संत एकनाथ, संत तुकाराम, गोरोबा कुम्हार, सांवता माली, संत चोखोबा, निलोबाराय, बहिणाबाई आदि इस मालिका के प्रमुख संत हैं। इन संतों की रचनाओं में ईश्वर जगत, जीव, ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि के संबंध में लक्षणीय एवं महत्त्वपूर्ण विचार अंकित हैं। इन्हीं विचारों से वारकरी संप्रदाय का सैद्धांतिक स्वरूप विकसित हुआ। इस दृष्टि से ज्ञानेश्वर की रचनाएँ-ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, अभंग, एकनाथ की रचनाएँ- एकनाथी भागवत, चतुःश्लोकी भागवत, रुक्मिणी स्वयंवर, भावार्थ रामायण, भारूड, गौकण और तुकाराम की चना-गाथा आदि महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

वारकरी संप्रदाय की प्रमुख मान्यताएँ : विट्ठल वारकरी संप्रदाय के उपास्य हैं। विट्ठल कृष्ण के अवतार हैं। विट्ठल के विठोबा, पांडुरंग, पंढरीनाथ आदि नाम हैं। एक मत के अनुसार विट्ठल शब्द कन्नड शब्द 'विट्ट' -विष्णु तथा 'स्थल'-शिव से बना है। इस मत के अनुसार हरि तथा हर के ऐक्य के रूप में विट्ठल नाम प्रचलित है। विट्ठल को कर्नाटक का कानड़ा कहा गया है। ज्ञानेश्वर ने कहा है-

कानड़ा हा विट्ठल कर्नाटकु।

(यह कर्नाटक का कानड़ा विट्ठल है।) एकनाथ ने भी कहा है-

तीर्थ कानडे़ देव कानडे़। क्षेत्र कानडे़ पंढरिये।

(पंढरपुर तीर्थक्षेत्र कानडी है, पांडुरंग देव कानडी है।)

वारकरी संप्रदाय की मान्यता है कि भक्त पुंडलिक के लिए पंढरपुर में पांडुरंग का अवतार हुआ। संत तुकाराम ने कहा है-

'उदार चक्रवर्ती। वैकुंठीचा भूपती।
पुंडलिकाचिया प्रीती। विटे उभा राहिला।'

(वैकुंठ के राजा इतने उदार हैं कि चक्रवर्ती राजा होते हुए भी भक्त पुंडलिक के प्रति प्रीतिवश ईंट पर खड़े रहे हैं।)

वारकरी संप्रदाय ने महाराष्ट्र में धार्मिक जीवन के अंतर्गत ऐक्य का जो महान प्रयोग किया, उसकी नींव ऐक्य के प्रतीक आराध्य या उपास्य में विद्यमान है। वारकरी संप्रदाय ने हरि तथा हर के ऐक्य का प्रयास किया। विट्ठल या विठोबा के मस्तक पर शिवलिंग होने की मान्यता इसी ऐक्य या समन्वय का प्रतीक है। संत निवृत्तिनाथ ने कहा है कि पुंडलिक ने विष्णु सहित शिव को पंढरपुर में लाकर भीमा नदी के किनारे स्थापित किया। ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के कृष्णार्जुन संवाद में कृष्ण से यह कहलाया है कि सदाशिव श्री गुरु हैं, मैं उन्हें अपने मस्तक पर धारण करता हूँ। नामदेव ने भी कहा है- ''शिव-विष्णु मूर्ति एक।'' तुकाराम भी दोनों को एक मानते हैं- ''हरिहरा भेद नाही।'' रामदास ने कहा है-''पिठोने शिरी वाहिला देव राणा'' अर्थात् विट्ठल ने अपने मस्तक पर देवराणा को, शंकर को वहन किया है। स्पष्ट है कि शिव और विष्णु का समन्वय महाराष्ट्र के वारकरी संप्रदाय का अनन्य साधारण वैशिष्ट्य है।

वारकरी संप्रदाय में ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठ, एकनाथी भागवत, तुकाराम की अभंग गाथा उपास्य ग्रंथ हैं। अन्य संतों की रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। इस संप्रदाय को अद्वैत सिद्धांत स्वीकार है, पर इस कौशल से कि अभेद को सिद्ध करके भी संसार में प्रेम सुख बढ़ाने के लिए भेद को भी अभेद बनाया जाए।

वारकरी संप्रदाय ज्ञान और भक्ति की एकरूपता को मानता है-जो भक्ति है, वही ज्ञान है और वहीं श्रीहरि विट्ठल हैं। द्वैताद्वैत भाव से नारायण सर्वत्र व्याप्त हैं। इस अनुभव को प्राप्त करना ही भक्त का ध्येय है। वारकरी संप्रदाय को नवधा भक्ति मान्य है। उसमें भी नाम स्मरण, हरि-कीर्तन प्रमुख साधन हैं। 'जय-जय राम-कृष्ण-हरि' इस संप्रदाय का प्रमुख मंत्र है। संप्रदाय के भक्तगण 'जय-जय विट्ठल,' 'विठोबा रखुमाई,' 'ज्ञानेश्वर माऊली,' 'ज्ञानेश्वर,' 'तुकाराम' आदि नामों का भी निरंतर उच्चार करते हैं। यह संप्रदाय गरुड़, हनुमान, प्रल्हाद को आदर्श भक्त मानता है। निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम इस संप्रदाय में गुरु माने जाते हैं। संप्रदाय में संत, गाय, अतिथि को पूज्य माना जाता है। द्वार पर तुलसी वृदावन, गले में तुलसी की माला, भगवान के लिए तुलसी का हार जरूरी माना जाता है। विट्ठल के गले में तुलसी माळ' होती है। वारकरी संप्रदाय का भक्त भी 'तुलसी माळ' धारण करता है। उसे 'माळकरी' कहते हैं। अत: इस संप्रदाय का एक नाम 'माळवरी संप्रदाय' भी है।

वारकरी संप्रदाय में एकादशी, महाशिवरात्री और सोमवार को व्रत किया जाता है। आषाढ़ी तथा कार्तिकी एकादशी को पंढरपुर की सवारी (यात्रा) की जाती है। इसी वारी करने की परंपरा के कारण इसका नाम 'वारीकरी संप्रदाय' और आगे 'वारकरी संप्रदाय' पड़ा। इस वारी में महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, कर्नाटक तथा आंध्रप्रदेश के विट्ठल भक्त सम्मिलित होते हैं। गाँव-गाँव से सैकड़ों वारकरी पहले देहू, आळंदी में इकट्ठा होते हैं। वहाँ से सजी हुई पालकियाँ, गाँव-गाँव के भजन-मंडल, कीर्तन-फड़ के कीर्तनकार विट्ठल रखुमाई तथा संतों के नामों का उच्चार करते हुए पंक्तिबद्ध रूप में पढरपुर की

ओर अग्रसर होते हैं। लगभग पंद्रह दिन पैदल चलते हुए यह वारी एकादशी को पंढरपुर पहुँचती है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते वारकरियों की संख्या बढ़ जाती है। लाखों की संख्या में भक्तगण विट्ठल के दर्शन कर निहाल हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों के हजारों विट्ठल भक्तों को पंक्तिबद्ध चलते हुए देखकर देश-विदेश के जिज्ञासु आश्चर्य चकित हो जाते हैं। धार्मिक यात्रा के माध्यम से संपन्न यह सामाजिक ऐक्य ऐतिहासिक महत्व रखता है।

वारकरी संप्रदाय में पंढरपुर, देहू, आळंदी, त्र्यंबकेश्वर, पैठण, सासवड़ आदि संस्थानों को महाक्षेत्र या तीर्थक्षेत्र माना जाता है। वारकरी संप्रदाय में काया, वाचा, मनसा, अहिंसा व्रत का पालन किया जाता है। परस्त्री, परधन, परनिंदा, मद्य-मांस वर्ज्य है। संप्रदाय मानता है कि कुलधर्म तथा जाति-स्वभाव से प्राप्त कर्म करने वाला पुरुष कर्मबंधन को जीत लेता है। वारकरी संप्रदाय जगत् को विष्णुमय मानता है। अत: सब भूतों में भगवद्भाव धारण करने पर बल देता है। इस उदार तत्व के कारण संप्रदाय में समता, दया, परोपकार, सेवा, आदि मानव-मूल्यों को महत्त्व प्राप्त हुआ।

ज्ञानेश्वर कालीन परिस्थितियाँ : ज्ञानेश्वर के समय की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ ग्लानि से भरी हुई थीं। वैदिक परंपरा निष्प्रभ बनी हुई थी। धर्म संस्था में परिस्थितियों के अनुकूल नई प्रेरणा देने की सामर्थ्य शेष नहीं थी। यही कारण है कि परधर्मीय आक्रामक अल्प समय में ही दक्षिण के लगभग सभी हिंदू राजाओं को अपने अधीन कर सके। धार्मिक भावना संकुचित होकर यज्ञयाग, व्रत वैकल्प तथा जय-जाप्य तक ही सिमट गई थी। विवेक का अभाव और कर्मकांड का बोलबाला था। नैतिक मूल्य कुचले जा रहे थे। धार्मिक विधि-विधान के निकट मानसिक स्वतंत्रता को दबाया जा रहा था। स्वयं ज्ञानेश्वर के माता-पिता और पूरे परिवार को इन परिस्थतियों के दुखद परिणाम भोगने पड़े थे। उच्चवर्णियों में सुखासीनता एवं भोग विलास की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कर्तव्य पराङ्मुख हो गए थे। हेमाद्रि ने वैदिक धर्म का और रामदेवराय ने पंढरपुर मंदिर का पुनरुज्जीवन करने का प्रयास किया, लेकिन यह प्रयास कुल धार्मिक ग्लानियुक्त परिस्थितियों की तुलना में अल्प ही ठहरा। संत तुकाराम ने तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

अर्थे लोपली पुराणें। नाश केला शब्द ज्ञानें।।
विषय लोभी मने। साधनें बुड़विलीं।।

(पुराणों का सही अर्थ लुप्त हो गया है। केवल शब्द ज्ञान तक सीमित रहने से ऐसा हुआ। धर्मरक्षकों के विषयासक्त मनों ने धर्मसाधनों को बिगाड़ दिया है।) उस काल में समाज का बहुत बड़ा वर्ग अज्ञानी था। आध्यात्मिक ज्ञान से वंचित था। वह पशुतुल्य जीवन जी रहा था। मानसिक गुलामी के कारण उसकी दुरावस्था हुई थी। बहुजन समाज में जागृति की आवश्यकता थी। यह तभी संभव था जब उसकी भाषा में धर्म-विचारों को व्याख्यायित किया जाये।

जनसुलभ भाषा द्वारा परिवर्तन का लक्षणीय प्रयास : वारकरी संप्रदाय के संतों ने अपने धार्मिक ग्रंथ संस्कृत में न लिखकर जनसुलभ भाषा-मराठी में लिखे। लोकभाषा-मराठी-में लिखे गए उनके धार्मिक विचारों का सामान्य जनता पर अनुकूल असर हुआ। ज्ञानेश्वर ने मराठी साहित्य की परंपरा आरंभ की। अपनी रचनाओं से मराठी को सौंदर्य प्रदान किया। नामदेव के कीर्तनों में प्रभावपूर्ण

मौखिक भाषा का प्रयोग होता था। यह कीर्तन-परंपरा आज तक चली आई है। इस प्रकार मराठी के सुंदर तथा प्रभावपूर्ण प्रयोग द्वारा महाराष्ट्र के लोकजीवन को सांस्कृतिक अधिष्ठान प्राप्त हुआ। जन-सुलभ भाषा में धर्म-विचार प्रस्तुत करने से समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन में लक्षणीय सुधार का यह उत्तम उदाहरण है। ध्यातव्य है कि कबीर तथा अन्य निर्गुण संतों ने नामदेव का अनुसरण करते हुए हिंदी में यही मार्ग अपनाया। हिंदी और मराठी साहित्य-संसार में परस्पर आदान-प्रदान का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने इस तथ्य की ओर जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित किया है।

किसी नए पंथ की विचारधारा को जनसुलभ बनाने के लिए भाषा और शैली दोनों में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। केवल शब्द बदलने से काम नहीं बनता, लेखन शैली में भी बदलाव अपेक्षित होता है। ज्ञानेश्वर ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रतिपाद्य विषय, वाचक की क्षमता एवं अधिकार, अभिरुचि आदि को आजमाकर प्रचार के अनुकूल शैली अपनाई। उनके मन में श्रोता या वाचक के प्रति अपार आत्मीयता थी। अनुनय का भाव था। अतएव उनकी शैली में सुगमता है। गहराई होते हुए भी दुर्बोधता नहीं। उनकी भूमिका वाक्पटु पंडित तथा तर्क निपुण भाष्यकार की नहीं, अपितु स्नेहशील उपदेशक, सहृदय शिक्षक एवं ममतामयी माता की है। उन्होंने कहा है-

बाळकातें वोरसें। माय जैं जेवऊं वैसे।।

तैं तया ठाकती तैसे। घास करी।।

(माँ बालक के पास बैठकर, उसके अनुकूल ग्रास बनाकर खिलाती है।) इसी मातृ सुलभ वत्सलता के कारण महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर 'माऊली' (माता) कहने की परंपरा चल पड़ी, जो आज भी देखी और अनुभव की जाती है। ज्ञानेश्वर की वृत्ति में वाचक से समरस होकर लिखने वाले कलाकार की मृदुता थी। अत: उनकी शैली में भी मार्दव है।

वारकरी संप्रदाय के संतों ने अपनी रचनाओं में अभंग, गौकण, भारुड, विराणी आदि लोकप्रिय छंदों तथा काव्य प्रकारों का प्रयोग किया। प्रकृति परिचित कृषिकर्म, दैनिक व्यवहार और बढ़ई, कुम्हार, सुनार, लुहार आदि के कार्यों से संबंधित पदार्थों और प्रक्रिया पर आधारित रूपकों, दृष्टांतों के कारण संत वाणी लोगों को अपनी लगी।

लोगों में आत्मीयता एवं आत्मविश्वास जगाने के लिए लोगों में से ही नेताओं का आगे आना जरूरी होता है। वारकरी संप्रदाय ने लोगों में से धर्मप्रवक्ताओं को तैयार किया। नामदेव उनकी कीर्तन-परंपरा के आद्य प्रवर्तक हुए।

सुंबाचा करदोड़ा। रकट्याची लंगोटी।

नामा वाकवंटी। कथा करी।

(नारियल के रेशों से बनी करधनी, चीथड़े की लँगोटी पहना हुआ नामदेव चंद्रभागा नदी की बालू में कथा-कीर्तन कर रहा है।) यह दृश्य शूद्रातिशूद्रों के लिए निश्चय ही स्फूर्तिदायी था। इस स्फूर्ति से जनाबाई जैसी मामूली नौकरानी भी अपने अभंगों में अध्यात्म-विचारों को अभिव्यक्त करने लगी।

वेदांचा तो अर्थ आम्हांसीच ठावा।

मेरांनी वहावा भार मायां।।

(वेदों का अर्थ हम ही जानते हैं, दूसरे केवल बोझ वहन करते हैं।) तुकाराम की इस आत्मविश्वासयुक्त वाणी ने किसानों, शूद्रातिशूद्रों, पवनीदारों में अध्यात्म को समझने, समझाने का आत्मविश्वास पैदा किया। स्पष्ट है कि वारकरी संप्रदाय के संतों का बड़प्पन इस प्रकार की असाधारण स्फूर्तिदायी प्रवृत्ति में निहित है। वारकरी संप्रदाय के नाम संकीर्तन ने कर्मठताजनित अहंकार को कुचल दिया। आत्मशुद्धि, सदाचार, विवेक पर बल देने से संतों का अभंग वाङ्मय और कीर्तन संप्रदाय महाराष्ट्र में धर्म-शिक्षा का प्रभावपूर्ण साधन सिद्ध हुआ। इस आंदोलन का प्रभाव निरंतर बढ़ता ही गया।

वारकरी संप्रदाय की सर्वसमावेशकता : किसी धार्मिक संप्रदाय के विस्तार के लिए आवश्यक है कि उसके तत्त्वों को सामान्य जनता की क्षमता को ध्यान में रखकर मोड़ दिया जाये! किसी एक तत्त्व पर अत्यधिक बल न दिया जाये। किसी एक वर्ग के हित को ध्यान में रखकर उसका स्वरूप निश्चित न किया जाये। संप्रदाय के विकास के लिए सर्वसमावेशकता आवश्यक होती है। वारकरी संप्रदाय ने यही कार्य किया। उसने ज्ञान का महत्त्व मान्य करते हुए भी भक्ति को अग्रस्थान दिया। उसे प्रवृत्ति परक दिशा दी। लोगों को नाम संकीर्तन के रूप में सुलभ साधन प्रदान किया। अध्यात्म के मंदिर में अधिकाधिक लोग तभी प्रवेश कर सकते हैं जब उसका प्रवेश द्वार चौड़ा हो, सबको समा लेने वाला हो। वारकरी संतों की यही नीति थी। तुकाराम के शब्दों में-

अवधियां पुरतें वोसंडले पात्र।
अधिकार सर्वत्र आहे येथे।
(सबके लिए यह द्वार खुला है, यहाँ सबको प्रवेश का अधिकार है।)

वारकरी संप्रदाय परमार्थ के लिए घर-गृहस्थी को त्यागकर अरण्य-निवास करने या संन्यस्त जीवन अपनाने का उपदेश नहीं देता। संत ज्ञानेश्वर ने कहा है-

आता गृहादिक आधवें। तें कांही न लगे त्यजावें।।
(अब गृह आदि सब कुछ त्यागने की जरूरत नहीं है।) तथा-
न लगे सायास जावे वनांतरा।
सुखें ये-तो घरा नारायण।।
(वन में जाने का कष्ट उठाने की जरूरत नहीं, नारायण स्वयं ही घर पधारते हैं।)

चरित्र-निर्माण में संत-वचनों की उपयोगिता : समाज में परिवर्तन के लिए नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का अलग महत्त्व है। मराठी संत साहित्य ने जनसुलभ भाषा में नैतिक मूल्यों का उपदेश दिया। इसका स्वरूप 'उपदेश के लिए उपदेश' वाला नहीं है। अत: यह जनता के लिए बोझ नहीं बना। कभी ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का स्वरूप विशद करते हुए, कभी इनकी प्रक्रिया समझाते हुए, कभी आदर्श भक्त या ज्ञानी का वर्णन करते हुए उन्होंने यह उपदेश दिया है। इन वर्णनों में आध्यात्मिकता के साथ-साथ कर्तव्यनिष्ठा तथा सामाजिक नीतिमत्ता को वर्धिष्णु करने की क्षमता है। ज्ञानेश्वरी के सोलहवें अध्याय में कहा गया है-

का फेडित पापताप। पोखीत तीरींचे पादप।

समुद्रा जाय आप। गंगेचे जैसे।।

का जगाचें आंध्य फेडितु। श्रियेचीं राऊके उधडितु।।

निचे जैसा भास्वत। प्रदक्षिणे।।

(गंगा का प्रवाह समुद्र में मिल जाता है, लेकिन जाते-जाते अपने तीर के पाप-ताप को मिटाता है, पेड़ों का पोषण करता है। सूर्य संसार को प्रकाश देकर अंधकार मिटाता है। ऐश्वर्य के द्वार खोलता है।) स्पष्ट है कि यहाँ मनुष्य तथा प्रकृति के अन्य अंगों के लिए नदी, सूर्य आदि की उपयोगिता के तथ्य द्वारा परोपकार का संदेश दिया गया है। इसी प्रकार ज्ञानेश्वरी, एकनाथी भागवत तुकाराम की गाथा और अन्य संतों के साहित्य में नैतिक मूल्यों का महत्त्व और स्वरूप विशद करने वाले वचन मिलते हैं। जिनमें पाखंड-खंडन, अहंकार निर्मूलन, परोपकार, भूतदया, सत्-संग, विनय, सहिष्णुता आदि नैतिक मूल्यों का उद्घोष मिलता है।

वारकरी संप्रदाय के संतों ने बार-बार सदाचरण की महिमा गाई है। संत स्वयं सदाचारी थे, अत: उनकी वाणी को अनुयायियों ने सिर-आँखों पर उठा लिया। संत तुकाराम पहले झिया और फिर उपदेश या मार्गदर्शन के सूत्र को एक सुगम उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं-

अर्थकाचे साठीं। पंतें हातीं धरिली पाटी।।

तैसे संत जगीं। झिया करूनी दाविती अंगीं।।

(जिस प्रकार बालक को अक्षरज्ञान कराते समय पंत या गुरुजी स्वयं हाथ में पट्टी पकड़कर पढ़ाते हैं, उसी प्रकार संत कार्य करके जगत का मार्गदर्शन करते हैं।) चरित्र निर्माण के मौलिक कार्य में संतों का यह योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

वारकरी संप्रदाय के लगभग सभी संत गृहस्थाश्रमी थे। अपने व्यवसायकर्म में कुशल थे। वे न कभी लोगों से अलग-थलग रहे न लोगों को अपने से अलग रखा। संत चोखोबा के कथन से उनकी जन-संपर्क की नीति पर प्रकाश पड़ता है-

खटनट यावे, शुद्ध होऊनि जावे।

दवंडी पिटी भावे, चोखा मेळा।।

(अपराधी, दुर्जन सब आएँ और हमसे शुद्ध होकर जाएँ। चोखा मेळा मानो मुनादी दे-देकर सबको आमंत्रित करता है।)

अब तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि वारकरी संप्रदाय ने महाराष्ट्र के धार्मिक जीवन में आमूलचूल परिवर्तन किया। धार्मिक क्षेत्र से भेदभावना को दूर किया। उसने सबको भक्ति एवं साधना करने का अधिकारी माना। संतों ने लोगों को समझाया कि 'विष्णुमय जग वैष्णावांचा धर्म। भेदाभेद भ्रम अमंगकळ।' (जगत, विष्णुमय है, यह मान्यता ही वैष्णव का धर्म है। भेद, भ्रम अमंगल है।) वारकरी संप्रदाय के अभेद भाव ने जनता में जड़ पकड़ी। संत चोखोबा, जो जाति से महार थे, के सामने संत एकनाथ जैसे विद्ववतशिरोमणि ने सिर नवाँया। इससे समाज में जाति-पाँति जनित भेदभावना किसी तरंग में तय हो गई।

मराठी संत साहित्य का देश-विदेश की भाषाओं में अनुवाद : वारकरी संप्रदाय के संतों में से नामदेव ने उत्तर भारत की यात्रा की थी। उन्होंने पंजाब में दीर्घकाल तक वास्तव्य किया था। उनकी वाणी से उत्तर भारत का धार्मिक जीवन प्रभावित हुआ। विद्वानों ने संत कबीर पर नामदेव के प्रभाव को स्वीकार किया है। सिक्ख संप्रदाय ने नामदेव के पदों को 'गुरुग्रंथ साहब' में स्थान देकर उनके महत्त्व को स्वीकार किया है।

वारकरी संप्रदाय के साहित्य की महत्ता का इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण क्या हो सकता है कि जे.ए. फ्रेजर, जस्टिस एबट जैसे विदेशी विद्वानों को वह अंग्रेजी में अनुवादानुकूल लगा। इन विद्वानों के साथ ही विष्णु महाजनी, दिलीप चित्रे आदि भारतीय विद्वानों ने संत तुकाराम के अभंगों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। यही नहीं, तुकाराम का साहित्य फ्रेंच, जर्मन, स्पॅनिश, रूसी डच आदि विदेशी भाषाओं में भी पहुँचा। संत तुकाराम तथा ज्ञानेश्वर की रचनाओं के हिंदी में कई अनुवाद हुए हैं। तुकाराम के अभंग बाँग्ला, तमिल, मलयालम सिंधी भाषा में भी पहुँचे। विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने कुछ अभंगों का बाँग्ला में अनुवाद किया। इस प्रकार मराठी संत साहित्य को देश-विदेश में पहुँचाने में अनुवादकों का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इन अनुवादों के कारण राष्ट्र निर्माण में संत साहित्य का योगदान संभव हो सका।

राष्ट्रनिर्माण में मराठी संत साहित्य का योगदान : वारकरी संप्रदाय के संतों ने महाराष्ट्र में भक्ति का जो आदर्श प्रस्तुत किया। अभेद की जो वैचारिक पृष्ठभूमि बनाई वह आगे चलकर उन्नीसवीं सदी में धार्मिक तथा सामाजिक प्रबोधन करने वाली राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। संत तुकाराम की प्रासादिक वाणी का प्रभाव क्षेत्र तो इतना व्यापक है कि थियॉसॉफिस्टों ईसाइयों, प्रार्थना समाज के मान्यवरों तक ने उनके अभंगों को आध्यात्मिक उपलब्धियों का प्रतीक माना है। प्रार्थना समाज तो तुकाराम को अपना आदर्श मानता है। महात्मा ज्योतिबा पुले ने अपने सत्यशोधक समाजद्वारा महाराष्ट्र में वर्ण तथा जाति व्यवस्था पर भी आघात किया। उन्होंने स्वातंत्र्य समता, बंधुता आदि मानवीय मूल्यों को दृढ़मूल बनाने हेतु शिक्षा को परमावश्यक माना और स्त्रियों तथा शूद्रों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए उनसे प्रभावित होकर, शाहूजी महाराज, महाराजा संभाजीराव गायकवाड़ ने अपनी रियासतों में छात्रावास खोले और शिक्षा के प्रसार में योगदान दिया। इनकी सहायता से डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की विदेश में शिक्षा संभव हुई। आगे चलकर कर्मवीर भाऊराव पाटील की रयत शिक्षण संस्था ने पूरे महाराष्ट्र में गाँव-गाँव तक ज्ञानगंगा पहुँचाई। स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में बीसवीं सदी में संपन्न शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिवर्तन में वारकरी संप्रदाय द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि का बहुत बड़ा योगदान है।

सम्पर्क : *पुणे (महा.)*
मो. 9881710955

कमल किशोर गोयनका

प्रेमचंद साहित्य में कम्युनिस्टों का चरित्र

प्रेमचंद साहित्य बड़ा व्यापक है और विपुल मात्रा में है। उनके समय में कोई अन्य हिंदी लेखक अपने युग की इतनी व्यापकता के साथ न देख सका और न इतनी बड़ी मात्रा में ही और वह भी विविध विधाओं में साहित्य की रचना कर सका। उनका रचनाकाल लगभग तीस वर्ष का है और उनका जीवन भी छप्पन वर्ष में ही समाप्त हो गया, लेकिन उन्होंने अपने पात्रों की एक बड़ी दुनिया निर्मित की और भारतीय समाज के प्राय: सभी धर्मों, वर्णों, वर्गों, जातियों, वदों के साथ शहरी-ग्रामीण, शिक्षित-अशिक्षित, राजा-साधु, देशभक्त-देशद्रोही आदि के साथ स्त्री-पुरुष एवं सभी आयु के पात्रों का सृजन किया और ऐसा कोई ही क्षेत्र छूटा होगा जहाँ के पात्रों को उन्होंने न खोजा हो और जिसे अपने साहित्य में स्थान न दिया हो। हम इसी से उनकी इस क्षमता का अंदाज लगा करते हैं कि उनके साहित्य में प्रमुख, गौण तथा नगण्य पात्रों की संख्या तीन हजार के आसपास है, जिसमें लगभग सौ पात्र ऐसे हैं जो रचना में सक्रिय भूमिका निभाते हैं और कथा-सूत्रों को आगे बढ़ाते हैं। प्रेमचंद की यह पात्र सृष्टि और दृष्टि भी उन्हें अपने समय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यकार बनाती है।

प्रेमचंद-साहित्य के पात्रों की मनोरचना, उनके व्यवहार तथा सरोकारों पर गंभीरता पूर्वक अध्ययन नहीं हुए। बहुत समय पहले 'प्रेमचंद के पात्र' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी और उनकी पात्र-सृष्टि पर भी जो छुट-पुट शोध-कार्य हुआ, वह भी प्रकाश में नहीं आया। प्रेमचंद के अध्ययन में उनके पात्रों की संरचना हमें सही निष्कर्ष तक पहुँचा सकती है और हमें लेखक सी दृष्टि को समझने का भी अवसर मिल सकता है। अत: साहित्य के अध्ययन में उसके पात्रों के अध्ययन के महत्त्व को हमें स्वीकार करना होगा।

प्रेमचंद्र साहित्य में कम्युनिज्म विचारधारा के कुछ पात्र विद्यमान हैं, इसकी प्रेमचंद्र-आलोचना की कोई जानकारी नहीं मिलती, लेकिन इसकी विडम्बना यह है कि मार्क्सवादी आलोचक तथा लेखक दशकों से प्रेमचन्द्र को कम्युनिस्ट कहते रहे, लेकिन वे उनके साहित्य से एक भी ऐसा पात्र खोज नहीं पाये जो मार्क्स के दर्शन का अनुयायी हो, जो लेनिन की तरह खूनी क्रांति करके सत्ता परिवर्तन करता हो और समाजवादी समाज की संरचना एवं सर्वहारा के शासन को स्थापित कर सका हो। हमारे प्रगतिशील आलोचक व लेखक प्रेमचंद्र की कम्युनिज्म से प्रतिबद्धता के लिए कुछ प्रमाण देते हैं कि उन्होंने 21

दिसम्बर, 1919 में यह माना था कि मैं अब करीब-करीब बोल्शेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ (प्रेमचंद : पत्र-कोश, पृ.-2008) तथा वे प्रेमाश्रम, उपन्यास (1921-22) से बलराम का यह कथन प्रस्तुत करते हैं कि रूस और बलगारी में काश्तकारों का राज हो गया है। ये प्रगतिशील आलोचक उनके दो लेखों - 'पुराना जमाना' 'नया जमाना' तथा 'महाजनी सभ्यता' (सितंबर, 1936), एक भाषण जो 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में दिया गया तथा 'कफन' 'गो-दान' आदि कृतियों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करके प्रेमचंद को स्थापित करते हैं, लेकिन इन सभी में वे न तो मार्क्स, मार्क्सवाद के सिद्धांतों की चर्चा करते हैं और न इनमें से कोई पात्र मार्क्स-लेनिन का अनुयायी बनकर समाज में कोई क्रांति करके समाजवादी सत्ता की स्थापना करता है। इन प्रगतिशील आलोचकों का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि ये प्रेमचंद-साहित्य से उन पात्रों को भी नहीं देखते जो साम्यवादी सिद्धांतों के समर्थक है और वे निस्संकोच अपने विचारों को प्रकट करते हैं तथा एक कहानी में तो दो रूसी पात्र जार की सत्ता को पलटना चाहते हैं और उसके गवर्नर पर गोली चलाते हैं, लेकिन ये उस कहानी से भी बचकर निकल जाते हैं। वह कहानी 'कैदी' (जुलाई 1933) मैंने एक पत्रिका में प्रकाशित कराई तो डॉ. नामवर सिंह को उसे पढ़कर आश्चर्य हुआ, अर्थात् उन्हें इसकी जानकारी ही नहीं थी और यह उनके अनुसार, मार्क्सवादी हो जाने का समय था। इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि प्रेमचंद ने अपने जिन पात्रों को कम्युनिज्म समर्थक बनाया है और वे उसके सिद्धांतों का यथाकदा बखान भी करते हैं। उन्हें हमारे प्रगतिशील सिद्धांती लेखक-आलोचक देखना भी नहीं चाहते। ये प्रगतिशील अपने ही भाई-बंधों को तथा साहित्य में अपने पूर्वजों को भी अपनी विरासत के रूप में, अपने प्रेरणा-पुरुष के रूप में तथा अपने कुटुम्ब का सदस्य होना ही स्वीकार नहीं करते।

प्रेमचंद के इन कम्युनिस्ट पात्रों में अवश्य कुछ ऐसा है जिसके कारण वे इन्हें सार्वजनिक रूप से अपना नहीं मानते और उन पर एक स्थायी पर्दा डाल देते हैं और प्रेमचंद की इस पात्र-सृष्टि को उनके साहित्य से ही बहिष्कृत कर देते हैं। साहित्य के इतिहास में यह अद्‌भुत घटना है जब अपने ही चेहरे को पर्दे से ढक दिया गया है। प्रेमचंद साहित्य में अपने चेहरे को देखना बहुत ही कष्टदायक प्रक्रिया है और वामपंथी ऐसे प्रसंगों की उपेक्षा, बहिष्कार में सिद्धहस्त हैं। वे सदैव केवल वामपंथी आँख से ही दुनिया को देखते हैं और कूप-मंडूक की तरह उसे ही दुनिया समझते हैं। इसे वे वैज्ञानिक दृष्टि केहते हैं। जब कोई एक विचार से बँध जाता है तो विचारों का बुलंद दरवाजा बंद हो जाता है और नित नवीनीकरण की संभावनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं।

प्रेमचंद के चिंतन-संसार की संरचना में स्वामी विवेकानंद, गाँधी, मार्क्स, तिलक, क्रांतिकारी दल, अम्बेडकर, टालस्टाय तथा प्राचीन भारतीय साहित्य एवं दासत्व के उत्पीड़न तथा यूरोपीय सभ्यता का गहरा प्रभाव है और उनके पात्रों में भी इसकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। मार्क्सवाद तथा कम्युनिज्म के बारे में अपने युग के अन्य विचारकों के समान ही यथोचित ज्ञान था। प्रगतिशीलों का यह कहना एकदम झूठ है कि प्रेमचंद ने मार्क्स को न पढ़ा था और न उन्होंने उसके नाम का उपयोग किया तथा उन्हें मार्क्सवाद का संगत ज्ञान नहीं था। इसके विपरीत उनके विचारात्मक लेखों, सम्पादकीय एवं पत्रों में रूसी क्रांति, स्टालिन, वैचारिक साम्राज्यवाद तथा प्रजाविरोधी होने पर उसके समाप्त होने तक की भविष्यवाणी

कर चुके थे। प्रेमचंद के समाजवादी सम्पूर्णानंद, नरेन्द्र देव आदि से गहरे संबंध थे और नरेन्द्र देव के प्रस्ताव पर तो उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' का हिंदी-उर्दू में अनुवाद किया था। प्रेमचंद बोल्शेविक क्रांति के उसूलों के कायल होने की स्वीकृति के बाद से ही अपने साहित्य में कम्युनिस्ट (समाजवादी) पात्रों की सृष्टि करने लगे थे और जैसे ये पात्र उन्हें जीवन में दिखाई दे रहे थे वे उसी रूप में अपनी रचनाओं में चित्रण कर रहे थे। प्रेमचंद ने एक बार कहा था कि मैं कम्युनिस्ट हूँ, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि उनका कम्युनिज्म न रूसी है, न गाँधी का है, बस वे किसान को जमींदार-साहूकार के शोषण से मुक्त करना चाहते थे, और इसी इंटरव्यू (श्री रा. टिकेकर, 4 जनवरी तथा 1 फरवरी, 1935 में प्रकाशित) में यह भी कहा कि महात्मा गाँधी के 'चेंज ऑफ हार्ट' पर मेरा जोर है और परिवर्तन जबरदस्ती नहीं प्रेम से होना चाहिए। महात्मा गाँधी भी स्वयं को कम्युनिस्ट कहते थे, लेकिन वे 'अपरिग्रहवादी कम्युनिस्ट' थे, लेकिन कम्युनिस्ट क्रांति का समर्थन नहीं किया और उस समय भारतीय एवं रूसी कम्युनिस्ट उन्हें पूँजीपतियों का दलाल, अंग्रेजों का एजेन्ट कहकर भर्त्सना करते रहे।

प्रेमचंद पर गाँधी और मार्क्स के विचारों से संपर्क तथा प्रभाव लगभग एक ही समय में शुरू होता है, लेकिन गाँधी से सहमति एवं उनके विचारों की अभिव्यक्ति निरन्तर बढ़ती जाती है, वहाँ मार्क्सवाद के विदेशी एवं स्वदेशी स्वरूप पर आलोचनात्मक तथा निषेधात्मक चित्रण में वृद्धि होती जाती है। हम प्रेमचंद के पक्ष को इससे भी समझ सकते हैं कि उन्होंने 'रंगभूमि' के नायक सूरदास को जिस प्रकार गाँधी की चेतना एवं कार्यों का प्रतिरूप बनाया, वैसा मार्क्स-लेनिन का प्रतिरूपी कोई पात्र उनके साहित्य में नहीं मिलता, लेकिन वर्ष 1919 के बाद की रचनाओं में साम्यवाीद, समाजवाद, क्रांति, हिंसा, वर्ग-संघर्ष आदि के प्रसंग आते हैं और प्रेमचंद इन कम्युनिस्ट पात्रों के स्वभाव, चरित्र तथा आचरण की सच्चाइयों को उद्घाटित करते हुए चलते हैं। इन पात्रों के सिद्धान्त और आचरण भारतीय समाजवादियों की वास्तविक मूर्ति का उद्घाटन कर देते हैं। मैं प्रेमचंद के कुछ पात्रों के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उनकी साम्यवादी दर्शन की समझ तथा उसके आचरण की एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा।

1. प्रेमचंद की वर्ष 1919 में बोल्शेविक उसूलों के कायल होने की स्वीकृति के बाद वर्ष 1920 में उनकी दो रचनाएँ प्रकाश में आती हैं-एक है कहानी 'पशु से मनुष्य' तथा 'प्रेमाश्रम' उपन्यास जो लगभग लिखा जा चुका था। इन दोनों में ही प्रेमशंकर नाम का एक पात्र है जो सर्वहारा की क्रांति से समाज बदलने के स्थान पर सहकारिता से खेती करने, धनाश्रित भेद-भाव एवं ऊँच-नीच को मिटाने तथा मनुष्य-मनुष्य में वैषम्य मिटाने के लिए स्थापित करता है। 'पशु से मनुष्य' कहानी में डॉक्टर मेहरा अपने माली दुर्गा को बाग के आमों की चोरी करने पर निकाल देता है, लेकिन एक दिन वह अपने मित्र प्रेमशंकर के बाग की सैर करने आये तो उन्होंने अपने माली को वहाँ काम करते देखा। प्रेमशंकर अमेरिका से कृषि-विज्ञान का अध्ययन करके भारत लौटकर सहकारिता के आधार पर खेतीबारी करते हैं, लेकिन शहर का समय-समाज उन्हें झक्की मानता है। यद्यपि उनके सिद्धान्तों से सहानुभूति थी, लेकिन उनके क्रियान्वयन पर शंका थी। डॉ. मेहता के माली से सावधान रहने की चेतावनी पर प्रेमशंकर अपना सहकारिता का दर्शन स्पष्ट करते हैं कि यहाँ कोई नौकर नहीं है, सब लाभ के बराबर साक्षीदार हैं महीने-भर में आवश्यक व्यय को काटकर बची राशि समान भागों में बाँट दी जाती है। यहाँ साइकिल जैसी सुविधा संयुक्त आय से दी जाती

है और मूल बचत में से 20 रुपये मासिक गरीबों की औषधियों पर खर्च होते हैं। मैं इनका मुखिया हूँ, जो सलाह देता हूँ, मान लेते हैं। असल में मालिक और नौकर के अलग-अलग दल बन गये हैं और उनमें घोर संग्राम हो रहा है, लेकिन कुछ देशों में इस घातक संग्राम के दृश्य देखे हैं और मुझे उनसे घृणा हो गई। हमें सहकारिता ही इस संकट से मुक्त कर सकती है। डॉक्टर मेहता के प्रेमशंकर को 'सोशलिस्ट' कहने पर वह उत्तर देता है, मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमाक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं नि:स्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ मानता हूँ। (प्रेमचंद : कहानी रचनावली, खण्ड : दो, पृष्ठ-331) प्रेमशंकर धन की दासता और ऐसी शिक्षा जो धन लोलुप बनाये तथा भोग-विलास में डुबोये, घोर विरोध करता है और निष्कर्षत: वह कहता है कि जनतावाद के घोरनाद को सहकारिता से ही रोका जा सकता है। इस प्रकार प्रेमचंद सहकारिता के आधार पर समाजवाद का एक नया विचार देते हैं, जो उस समय तक विचारजगत में आ चुका था, लेकिन वे बोल्शेविक जैसी क्रांति से समानता को लाने के लिए तैयार नहीं हैं। प्रेमचंद न्याय, धर्म और सेवा से समाज को बदलना चाहते हैं।

2. 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर भी बोल्शेविक क्रांति के बाद जन्म लेता है और समाजवाद का एक भारतीय रूप विकसित करता है। उपन्यास का खलनायक ज्ञानशंकर, जो प्रेमशंकर का भाई है, वह आरम्भ में अपनी असमर्थता के कारण 'समाजवादी' बन जाता है, लेकिन उसका नशा जल्दी दूर हो जाता है। ज्ञानशंकर 'साम्यवाद' की सचाई खोलते हुए कहता है, ''सिद्धान्त रूप से हम चाहे इसकी कितनी ही प्रशंसा करें पर उसका व्यवहार में लाना असम्भव है। मैं यूरोप के कितने ही साम्यवादियों को जानता हूँ जो अमीरों की भाँति रहते हैं, मोटरों पर सैर करते हैं और साल में छ: महीने इटली या फ्रांस में विहार किया करते हैं।'' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ-390)। यह साम्यवादियों का वह रूप है जो ज्ञानशंकर देख रहे थे और इसी कारण उसे प्रेमशंकर के भारतीय साम्यवाद को देखकर आश्चर्य होता है कि यह कैसे सम्भव हो पाया। प्रेमशंकर रूसी-दर्शन से नहीं भारतीय मूल्यों से इसे सम्भव बनाते हैं जो युगों से यहाँ की संस्कृति का अंग रहे हैं। ये हैं 'संतोषमय, निष्काम और नि:स्पृह जीवन' का दर्शन जो प्रेमशंकर जीते हैं, जिससे 'शांति' और 'सहृदयता' उत्पन्न होती है। प्रेमशंकर कर्मशील हैं और उनका कर्मवादी समाजवाद रूस की नहीं भारत की उपज है। प्रेमशंकर 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करता है जो सारल्य, संतोष तथा सुविचार की तपोभूमि है। यहाँ न ईर्ष्या का सन्ताप है, न लोभ का उत्साह, न घृणा का प्रकोप। यहाँ न धन की पूजा होती है और न दीनता पैरों तले कुचली जाती है। यहाँ सब एक-दूसरे के सेवक, एक-दूसरे के मित्र और हितैषी हैं। ('प्रेमाश्रम', पृष्ठ 353 व 389)। प्रेमशंकर का यही 'रामराज' है और जिसे मायाशंकर विकसित कर देता है। वह किसानों को स्वतन्त्र कर देता है और उन्हें उनकी भूमि का स्वामी बना देता है। यह गाँधी के हृदय-परिवर्तन तथा ट्रस्टीशिप का प्रभाव है। वह कम्युनिज्म के सिद्धान्त की भूमि राज्य की सम्पत्ति है, उसे अस्वीकार करते हुए कहता है, ''भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की है या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है।'' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ 403)। प्रेमचंद का यह भारतीय समाजवाद प्रगतिशील लेखकों/आलोचकों को स्वीकार नहीं हुआ, और न उन्होंने इसकी कभी चर्चा ही की, क्योंकि यह मार्क्स के 'कैपिटल' से नहीं भारत की संस्कृति के तत्त्वों से निर्मित किया गया था।

3. प्रेमचंद की कहानी 'ब्रह्म का स्वाँग' (मई, 1920) की रचना स्वामी विवेकानंद के 'अद्वैतवाद' तथा प्रेमचंद के 'वेदांतीय एकात्मवाद' (प्रेमचंद : विविध-प्रसंग, खण्ड : 2, पृष्ठ - 224) पर आधारित है। प्रेमचंद ने अपनी इस टिप्पणी 'हिन्दू सोशललीग का फतवा' ('जागरण' 11 दिसम्बर, 1933) में लिखा कि हमें यूरोप के समाजवाद की नीति नहीं अपनाना, क्योंकि यूरोप जैसी परिस्थिति भारत में नहीं है। यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। इससे ऊँचा और पवित्र मानव-संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है। इसके विरुद्ध चलने पर ही समाज भक्ष्य तथा भक्षक दो श्रेणियों में बँट गया है और संघर्ष होता है। 'ब्रह्म का स्वांग' कहानी में वृंदा इसी एकात्मवाद का उपयोग करती है, लेकिन उसका पति मानता है कि साम्य एक सिद्धान्त के रूप में तो रहेगा, लेकिन उसका उपयोग असम्भव है। वृंदा उसे सम्भव बनाती है तो उसका पति स्पष्ट कहता है कि ईश्वर ने ही यह ऊँच-नीच का भेद बनाया है और यह 'महान सामाजिक व्यवस्था' उसकी आज्ञा के बिना भंग नहीं हो सकती पर वृंदा को विश्वास है कि एक दिन यह ब्रह्म-ज्योति चमकेगी और इस अंधकार को दूर करेगी। इस तरह प्रेमचंद उसके पति के साम्यवादी छल को, सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर को बड़े व्यंग्यात्मक रूप में प्रकट कर देते हैं।

4. प्रेमचंद की कहानी 'हार की जीत' मई, 1922 में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी में चार पात्र प्रोफेसर हरिदास भाटिया साम्यवादी सिद्धान्तों के कायल हैं उनकी बेटी लज्जा साम्यवाद पर मोहित थी और भाटिया के शिष्य शारदाचरण एवं केशो साम्यवादी हैं। लज्जा पिता की तरह साम्यवाद के सिद्धांतों की भक्त ही न थी, वह उन्हें व्यवहार में लाना चाहती थी। शारदाचरण रईस था और उसके साम्यवादी होने पर लोगों को कुतूहल होता था, लेकिन केशो के पास वैसी समृद्धि तथा कुल प्रतिष्ठा नहीं थी। केशो साम्यवाद पर व्याख्यान देता और प्रो. भाटिया उसकी अध्यक्षा करते, लेकिन वे अपनी बेटी का विवाह धनी, समृद्धिशाली एवं कुलीन ताल्लुकदार शारदाचरण से करना चाहते हैं, जिसके बारे में लज्जा कहती है कि 'तुम्हारा कॉलेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।' प्रो. भाटिया जब यह देखते हैं कि शारदा सुशीला की ओर उन्मुख है तो वे उसे वैभव एवं सम्पत्ति का दास कहते हैं तथा उसके साम्यवाद की हँसी उड़ाते हैं, लेकिन जब शारदा लज्जा से विवाह करना स्वीकार कर लेता है तो भाटिया उसे अपने जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा कहता है। इस प्रकार कहानी के इन शिक्षित पात्रों के लिए साम्यवाद केवल दिखावटी है, अन्यथा सभी को धन, सम्पदा तथा वैभव का जीवन चाहिए और उसमें निर्धन, शोषित के लिए कोई स्थान नहीं है।

5. इसके उपरान्त प्रेमचंद के महाकाव्यात्मक उपन्यास, 'रंगभूमि' में भी दो साम्यवादी पात्र हैं - ईसाई प्रभुसेवक तथा राजपूत विनय, जो सम्पन्न, प्रतिष्ठित एवं भव्य समाज के अंश हैं। प्रेमचंद ने प्रभुसेवक के साम्यवाद पर व्यंग्य करते हुए लिखा है, ''प्रभुसेवक और कितने ही विलास-भोगियों की भाँति सिद्धान्त रूप में जनवाद के कायल थे। जिन परिस्थितियों में उनका लालन-पालन हुआ था, जिन संस्कारों से उनका मानसिक और आत्मिक विकास हुआ था, उनसे मुक्त हो जाने के लिए जिस नैतिक साहस की, उद्दंडता की जरूरत है, उससे वह रहित थे। वह विचार-क्षेत्र में त्याग के भावों को स्थान देकर प्रसन्न होते थे और उस पर गर्व करते थे। उन्हें शायद कभी सूझा ही न था कि इन भावों को व्यवहार रूप

में भी लाया जा सकता है। वह इतने संयमशील न थे कि अपनी विलासिता को उन भावों पर बलिदान कर देते। साम्यवाद इनके लिए मनोरंजन का एक विषय था और बस।'' ('रंगभूमि', पृष्ठ 411)। इसी प्रकार विजय राजकुमार है, साम्यवादी है, लेकिन वह अपने स्वार्थ को नहीं छोड़ पाता। प्रेमचंद ने उसके बारे में लिखा है, 'गाड़ी में बैठते ही उनका साम्यवाद स्वार्थ का रूप धारण कर लेता है।' ('रंगभूमि', पृष्ठ 437)। इन भद्र समाज के पात्रों का सामंतीय संस्कार साम्यवादी होने पर भी समाप्त नहीं होता। प्रेमचंद ऐसे साम्यवादी विनय की अपनी ही गोली से आत्म-हत्या कराते हैं, लेकिन गाँधी का प्रतिरूप तथा धर्म-न्याय-सत्य पर चलने वाले नायक सूरदास को पुलिस की गोली से शहीद कराते हैं और भद्र-अभद्र सभी पात्र उसे श्रद्धांजलि देते हैं। सूरदास गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त करता है और विनय आत्मघात करता है और सूरदास जैसी गौरवपूर्ण मृत्यु से वंचित रहता है। एक लोक सेवक और साम्यवादी में यही अन्तर है और प्रेमचंद की यही दृष्टि है।

6. प्रेमचंद की 'दो सखियाँ' (फरवरी-मई, 1928) पत्रात्मक लंबी कहानी है। इसके विनोद साम्यवादी है। उसे राजाओं से चिढ़ है। वह मानता है कि समाज की सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति रक्षा के आधार पर हुआ है। वह विवाह को अनावश्यक मानता है और स्त्री-पुरुष दोनों को स्वाधीन बनाना चाहता है। वह उन्मुक्त काम का उपासक है, परन्तु जब वह अपनी पत्नी पद्मा को पर पुरुष भुवन के साथ देखता है तो उसका साम्यवाद का 'दार्शनिक सिद्धान्त' पानी की तरह बह जाता है और जो पत्नी को स्वाधीन बनाना चाहता था वह पत्नी के भुवन से बातचीत करने पर विष खाकर मरना चाहता है। लेखक कहता है कि स्वाधीनता नहीं, पति-पत्नी में प्रेम और सेवा-भाव होना चाहिए। कहानी साम्यवादियों को समझा देती है कि आत्म-समर्पण, सेवा-भाव, सहृदयता, अनुराग और आत्मीयता ही दाम्पत्य जीवन को सुखकर बना सकते हैं।

7. प्रेमचंद की एक अचर्चित कहानी है- 'डामुल का कैदी' जो अक्टूबर-नवम्बर 1932 में प्रकाशित हुई थी। आश्चर्य है, किसी वामपंथी आलोचक ने इसका नोटिस नहीं लिया, जबकि इसमें पूँजीपतियों के हाथों दो मजदूर नेता-गोपीनाथ एवं कृष्णचन्द्र मारे जाते हैं। इस कहानी में मिल मालिक के विरुद्ध मजदूर संगठित होते हैं, हड़ताल होती है और उनका नेता सेठ खूबचंद की गोली से मारा जाता है। खूबचंद का बेटा कृष्णचंद्र भी मजदूरों का नेता बनता है और फिर हड़ताल होती है और वह फौजी गारद की गोली से मारा जाता है। हमारे कम्युनिस्ट लेखक/आलोचक इसे अपने विचारों की कहानी नहीं मानते, जबकि मिल मालिक और मजदूरों में सीधा संघर्ष होता है। इसका कारण यह है कि सेठ बेटे की स्मृति में मंदिर बनवाता है, जन्माष्टमी पर 'कृष्ण भगवान की जय' की ध्वनि गूँजती है और उसका पर्यवसान आध्यात्मिक एवं ईश्वरीय आनंद के साथ पुनर्जन्म के प्रसंगों से होता है तथा सेवा-धर्म की स्थापना होती है। वामपंथियों के लिए यह सब अवांछनीय एवं उपेक्षणीय है। यदि मजदूर धर्म-भक्ति करे तो भी उन्हें स्वीकार नहीं लेकिन प्रेमचंद तो धार्मिक लोक विश्वासों तथा सेवाभाव के लिए प्रतिबद्ध है।

8. प्रेमचंद की कहानी 'कैदी' के साथ भी भारतीय कम्युनिस्ट आलोचकों ने ऐसा ही व्यवहार किया। यह कहानी 'हंस', जुलाई, 1933 में प्रकाशित हुई थी, अर्थात् डॉ. नामवर सिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र तथा अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि में यह समय प्रेमचंद का आदर्शवाद से मोहभंग और

साम्य-दर्शन की ओर आने का है, लेकिन आश्चर्य है कि वे इस कहानी को, जिसमें रूसी पात्र हैं जो लेनिन के कामरेड हैं तथा जो जार के गवर्नर की हत्या करना चाहते हैं, अपनी उपेक्षा का शिकार बनाते हैं। प्रेमचंद बोल्शेविक क्रांति के कामरेडों पर कहानी लिख रहे हैं और हमारे भारतीय कामरेड उसे देखना/पढ़ना तथा उस पर कुछ लिखना भी नहीं चाहते। मैंने 'कैदी' कहानी एक पत्रिका में प्रकाशित की, तब उसके बाद डॉ. नामवर सिंह मिले तो आश्चर्य से बोले कि यह प्रेमचंद की है, लेकिन मैंने इसे पढ़ा नहीं। इस कहानी का नायक रूसी युवक आइवन और उसकी प्रेमिका रूसी हेलेन। आइवन सम्पन्न और संभ्रांत कुल का युवक है और अपनी सहपाठिन हेलेन से प्रेम करता है। वह प्रेमिका के कहने पर प्रजा पक्ष एवं राष्ट्रवादियों के संग्राम में हिस्सा लेता है और असहमत होकर भी प्रेमिका के दबाव तथा इच्छा देखकर जार के अत्याचारी गवर्नर रोमलाफ की हत्या करना स्वीकार कर लेता है और उधर हेलेन रोमलाफ को अपने प्रेम-जाल में फँसाती है। आइवन योजनानुसार रोमलाफ पर गोली चलाता है परन्तु वह उसे पकड़ लेता है और हेलन उससे विश्वासघात करके उसके विरुद्ध गवाही देती है और आइवन को चौदह वर्ष सी सजा हो जाती है। इस प्रकार हेलेन अपने प्रेमी को हत्या के लिए प्रेरित करती है और उसे सजा कराती है और खुद गवर्नर रोमलाफ से शादी कर लेती है। यह है रूसी कामरेडों का सच, जो धोखेबाज हैं, क्रांति की झूठी बात करते हैं तथा प्रेमी को सजा कराते हैं। प्रेमचंद भारतीय ही नहीं रूसी कम्युनिस्टों एवं लेनिन के कामरेडों को भी पहचान रहे थे। जब रूसी कामरेड ही धोखेबाज और स्वार्थी थे तो भारतीय कम्युनिस्ट अपने गुरुओं से कैसे भिन्न हो सकते थे? तो यही कारणा है कि न तो नामवर सिंह इस कहानी को अपने संज्ञान में लेते, न उनके चेले-चपाटे, लेकिन लेनिन और कामरेडों की क्रांति का राग बराबर अलापते रहते हैं।

9. इस विषय की दृष्टि से उनकी दो कहानियाँ 'क़ातिल' तथा 'क़ातिल की माँ' बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन इनकी चर्चा किसी ने नहीं की। 'कातिल' (1934) कहानी में रूसी क्रांति और हत्या से स्वराज्य लेने वाला बेटा धर्मवीर तथा उसकी माँ अहिंसा, हृदय-परिवर्तन, त्याग, सदाचार, बलिदान आदि के गाँधीवादी रास्ते से स्वधीनता चाहती है। धर्मवीर माँ से कहता है कि एक हजार अंग्रेजों को कत्ल कर दिया जाये तो आज ही स्वराज्य मिल जाये। रूस इसी तरह आज़ाद हुआ, आयरलैंड भी इसी तरह आजाद हुआ, हिन्दोस्तान भी इसी तरह आजाद होगा। एक गोरे अफसर को कत्ल करने से हुकूमत जितना डरेगी, उतना एक हजार जुलूसों से मुमकिन नहीं। धर्मवीर फिर कहता है कि भारत माता की सेवा लिए तुम्हें भी कत्ल कर सकता हूँ। उसकी माँ प्रकट रूप में बेटे के कहने पर रिवाल्वर चलाना सीखती है, उसके साथ झाड़ी में छिपकर बैठती है, पर वह साहब के साथ लेडी को बैठा देखकर बेटे को गोली चलाने से रोकती है और दूसरी बार साहब के अकेले लौटने पर धर्मवीर गोली चलाकर मारना चाहता है तो माँ पहले रिवाल्वर छीनती है और गोली चलने पर अपनी छाती पर झेलती है और मर जाती है। माँ मरते समय अपने जन्म को सुफल होना मानती है और बेटा अपनी माँ के निर्जीव शरीर को गोद में लेकर आँसू-भरी आँखों से दर्द का अनुभव करता है, परन्तु 'आत्मिक आह्लाद' का भी अनुभव करता है। प्रेमचंद ने मृत माँ के शरीर को अपनी गोद में रखकर बेटे के आत्मिक आह्लाद में अपना अभिप्रेत स्पष्ट कर दिया है। धर्मवीर का हृदय-परिवर्तन होता है और हिंसा को रोकने में माँ के बलिदान में आत्मिक

आनंद को अनुभव करता है। यह बोल्शेविकों की खूनी क्रांति पर अहिंसक गाँधीवाद की विजय है। गाँधी ऐसी अहिंसा को श्रेष्ठ मानते थे जो हिंसा को रोकने में अपना बलिदान करते। हमारे वामपंथियों को यह कहानी पढ़नी चाहिए और तब उन्हें समझ में आयेगा कि प्रेमचंद को मार्क्सवादी कहना तथा खूनी क्रांति का समर्थक कहना कितना झूठा है।

प्रेमचंद की इसी विषय पर दूसरी कहानी है- 'कातिल की माँ', जो उनके उर्दू कहानी-संग्रह 'वारदात' (1935), पर यह उनके देहांत के बाद प्रकाशित हुआ था, परन्तु कहानियों का चयन प्रेमचंद ने ही किया था। अमृतराय इसे अपनी माँ शिवरानी देवी की कहानी मानते हैं, लेकिन प्रेमचंद क्यों अपनी पत्नी की कहानी को अपनी मानकर संकलित करते? इस कहानी में भी माँ-बेटे हैं, माँ कांग्रेस की सदस्या है और बेटा विनोद क्रांतिकारी। माँ बेटे को समझाती है कि हमारा धर्म है कि खुद जियें और दूसरों को भी जीने दें। धर्म और नीति की ही हमेशा जीत हुई है तथा स्वराज्य कत्ल तथा खून से नहीं, त्याग, तप और आत्म शुद्धि से मिलता है और जो स्वराज्य कत्ल तथा खून से मिलेगा, वह कत्ल और खून पर ही कायम रहेगा। विनोद पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता और वह एक अफसर की हत्या करके भाग जाता है। उसकी माँ रामेश्वरी मजिस्ट्रेट के सामने बेटे के हत्यारे होने की साक्षी देती है और विनोद अचानक आकर माँ के सीने में खंजर उतार देता है और उसकी आँखें दो कतरे निकलने के बाद हमेशा के लिए बंद हो जाती हैं। यह कहानी भी स्पष्ट करती है कि प्रेमचंद खून से सना स्वराज्य नहीं चाहते और वे कहते थे कि खून से मिला स्वराज खून से ही कायम रहेगा। रूस और चीन का साम्यवादी इतिहास इसका प्रमाण है, पर खेद है कि भारतीय कम्युनिस्ट इस सत्य को हृदयंगम नहीं करना चाहते।

प्रेमचंद के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'गोदान' में भी कम्युनिज्म का चरित्र सामने आता है। यद्यपि 'गो-दान' में कोई कम्युनिस्ट पात्र नहीं है, और न कोई वर्ग-संघर्ष ही है और न मजदूरों के हाथ में सत्ता आती है, पर हमारे बड़े-छोटे सभी मार्क्सवादी आलोचक इसे मार्क्सवादी कृति मानते हैं। ये प्रगतिशील कोई भी कुतर्क कर सकते हैं तथा किसी को भी अपना मित्र या शत्रु घोषित कर सकते हैं और ये इतनी बार दुहराते हैं कि लोग उस पर विश्वास करने लगते हैं। 'गो-दान' के बारे में, रूस में रहे मदनलाल 'मधु' ने लिखा कि 'गो-दान' रचना-समय में प्रेमचंद ने 'वर्ग-संघर्ष के सत्य' को स्वीकार कर लिया था। (गोर्की और प्रेमचंद : दो अमर प्रतिभाएँ, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1980, पृष्ठ 290) डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि 'गो-दान' में 'क्रांतिकारी पक्षधरता' है, लेकिन ये मार्क्सवादी उपन्यास में प्रो. मेहता साम्यवाद के समता-सिद्धान्त पर ही चोट करते हुए कहता है, 'धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते हैं, लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से ही तो नहीं होता।' (गो-दान, पृष्ठ 54-55)। प्रो. मेहता भारतीय कम्युनिस्टों के चरित्र का उद्घाटन करते हुए कहता है, 'मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की-सी,, मगर जीवन रईसों का-सा उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ। मैं तो इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं। हैं तो व्यवहार करें, नहीं हैं तो बकना छोड़ दें।' ('गो-दान' पृष्ठ-52)। 'गो-दान' में गोबर एक ऐसा पात्र है जिसे प्रेमचंद चाहते तो उसे एक आदर्श कम्युनिस्ट बना सकते हैं। वह विद्रोही है, शहर में मिल का मजदूर बनता है, पर प्रेमचंद मिल

में ही आग लगवा देते हैं और गोबर माली बनकर रह जाता है।

प्रेमचंद साहित्य में कम्युनिस्ट पात्रों के इस चारित्रिक विवेचन से भारतीय कम्युनिस्टों के जीवन चरित्र तथा कथनी-करनी में अंतर एवं छद्म मार्क्सवादी होने की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचंद गाँधी को कम्युनिज्म से भी आगे 'अपरिग्रहवादी मानते थे और पं. जवाहरलाल नेहरू को ऐसा सोशलिस्ट जो विचार में थे पर व्यवहार में नहीं थे। ' ('जागरण' 9 अक्टूबर, 1933)। महात्मा गाँधी ने भारतीय साम्यवादियों के कथन एवं आचरण में अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा था, 'सभी को बलपूर्वक समान बनाने से अच्छा यह है कि हम स्वयं समानता के सिद्धान्तों को अपने आचरण में प्रयोग करें। हम अपनी निजी सम्पत्ति समाज को दान कर दें। भारत के साम्यवादी स्वयं को साम्यवादी कहते हैं, पर साम्यवादी जीवन व्यतीत करते नहीं दिखाई देते, क्योंकि वहीं एक-एक के आचरण की कोई योजना नहीं है।' (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड : 45, पृष्ठ-316)।

प्रेमचंद ने यही बात 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्घाटन (10 अप्रैल, 1936) के बाद उसके कम्युनिस्ट आयोजक सज्जाद जहीर को 12 जून, 1936 के पत्र में लिखी थी, महज जबानी इश्तिराकियत (साम्यवाद) से क्या हासिल? मैं ऐसे कितने नौजवानों को जनता हूँ जो मजलिसे अहबाब (दोस्तों की सभा) में सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट सब कुछ हैं, मगर जब जवाँमर्दी दिखाने का मौका आता है तो हरमसरा (अन्त:पुर) में रूपोश (छिप) जाते हैं।' ('प्रेमचंद : पत्र कोश' पृष्ठ 521)। अत: प्रेमचंद का दृष्टिकोण पूर्णत: स्पष्ट है। वे मार्क्सवाद और उसके भारतीय अनुयायी कम्युनिस्टों के न तो समर्थक और प्रशंसक हैं और न उनके हिंसक आदर्शों से स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते हैं। प्रेमचंद भारतीय कम्युनिस्टों के दोगले चरित्र को उद्घाटित करते हैं, उन पर व्यंग्य करते हैं और उन्हें विदूषक बना देते हैं। वे अपने कम्युनिस्ट पात्रों का जैसा अंत दिखाते हैं, वह भी उनके भारतीय चित्त और चेतना एवं सरोकार को उजागर करता है। उनके साहित्य में इसी कारण मार्क्स-लेनिन का प्रतिरूप कोई पात्र नहीं है, जबकि गाँधी चेतना के कई पात्र हैं। अत: हमें प्रेमचंद को मार्क्सवादी, कम्युनिस्ट, हिंसक क्रांति का समर्थक आदि धारणाओं से मुक्त होकर उन्हें भारतीय आत्मा के कथाकार के रूप में समझना-समझाना चाहिए। प्रेमचंद की यही सच्ची मूर्ति है जो कालजयी भी है और जो उन्हें कथा-सम्राट बनाती है।

सम्पर्क : *दिल्ली (भारत)*
मो. 9811052469

सुधा तैलंग

संस्कृति, कला, साहित्य वर्तमान और अपेक्षाएँ

संस्कृति, कला व साहित्य से ही एक राष्ट्र की पहचान होती है। संस्कृति ही एक राष्ट्र का निर्माण करती है। सुसंस्कृत व सुशासित देश को राष्ट्र कहते हैं। भारतीय संस्कृति एक गौरवशाली संस्कृति है। भारतीय संस्कृति अत्यन्त उदात्त, समन्वयवादी, सशक्त व जीवन्त रही है। हमारी संस्कृति, कला व साहित्य अत्यन्त समृद्धशाली व उत्प्रेरक रहा है। हमारी कला, संस्कृति व साहित्य से ही प्रभावित होकर विदेशी ताकतों ने हमारे देश पर आक्रमण किया। हमारी अनेक इमारतों पर प्रहार किया। हमारे प्राचीन साहित्य को नष्ट करने का प्रयास किया। हमारे देश ने विदेशी आक्रमणकारियों के प्रहार दृढ़तापूर्वक सहे लेकिन अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ा। अपने जीवन मूल्यों व आदर्शों के साथ समझौता नहीं किया। यही कारण है कि हमारी संस्कृति अनुप्राणित व जीवन्त रही। पूरे विश्व में भारत को विश्वगुरु का सम्मान मिला। वसुधैव कुटुम्बकम् की विचारधारा से पूरे विश्व को एक ही परिवार मानने के कारण ही हमारे देश ने आज भी अपनी सभ्यता, संस्कृति, कला व साहित्य को अनुप्राणित रखते हुये समूचे विश्व में अपनी गौरवमयी पहचान बनाई है।

स्वर्णिम अतीत, संस्कृति संस्कृति से ही राष्ट्र प्रेरित होता है। उन्हीं के पास जन सहयोग होता है जो संस्कृति से जुड़े होते हैं। बाल गंगाधर तिलक ने गणेश उत्सव की शुरुआत करके जनजागरण किया व सामाजिक सहभागिता से देश में राष्ट्रीयता के भाव जगाये। हमारे तीजत्यौहारों में राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने की ताकत है। स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, दीपावली, होली, नवरात्रि, ईद व क्रिसमस में हमें एकता व सौहार्दता के परिदृश्य देखने मिलते हैं। हमारे देश में अनेक धार्मिक, दार्शनिक सम्प्रदाय व विचारधारायें विकसित हुईं उनमें से कई आज भी जीवन्त हैं। हमारी संस्कृति में लचीलापन, सहिष्णुता, अहिंसा व उदारता है। पश्चिमी देशों में यूरोप के साहित्य, कला, विज्ञान पर भारतीय संस्कृति का अमिट प्रभाव देखा जा सकता है।

संस्कृति को ही आधार बनाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना करके आस्था, श्रद्धा व उत्साह की भावना जाग्रत करते हुये लोकमानस में जनसंचार किया। वहीं महात्मा गाँधी, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी ने सत्य, अहिंसा, त्याग, अध्यात्म ज्ञान व मानवता का समूचे विश्व को संदेश दिया। जगद्गुरु शंकराचार्य, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद ने पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति की गौरवपूर्ण पहचान बनाई।

गीता में हमारी संस्कृति की सामाजिक-नैतिक विचारधारा, कर्म एवं ज्ञान की त्रिवेणी धारा प्रवाहित होती है। गीता वैदिक परम्पराओं का अंग है, भारतीय चिंतन परम्परा की संवाहक है।

भारत की संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार व लोक परम्पराओं का अद्भुत प्रवाह है। भारतीय संस्कृति ने अपने को धर्म, वाङ्मय, कला और साहित्य के रूप में व्यक्त किया है। लोक कला, साहित्य में हमारी संस्कृति विकसित हुई है। कला व साहित्य ने हमारे देश के व्यक्ति व समाज के मानस में नूतन उल्लास व उत्साह का संचार किया। भारतीय कला साहित्य ने पूरे विश्व में भारत की एक गौरवमयी पहचान बनाई।

भारतीय संस्कृति ने प्रारम्भ से ही पूरे विश्व को प्रभावित किया। हमारी संस्कृति से ही प्रभावित होकर नालन्दा, तक्षशिला व विक्रम विश्वविद्यालय में समूचे विश्व के ज्ञान पिपासु शिक्षा अर्जित करने आये। तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, संत तुकाराम की वाणी को भारतीयों ने अपने स्पन्दन की प्रतिध्वनि के रूप में स्वीकार किया। हमारी संस्कृति और कला विविध रूपिणी एवं बहुमुखी है। कला व साहित्य में हमारी संस्कृति विकसित, पल्लवित व पोषित हुई है।

कला : लोगों के मन में झंकृत होने वाले तारों की स्वर लहरी को अभिव्यक्त करती है। कला के अनेक स्वरूप हैं। लोक गीत, लोक नृत्य, लोकचित्र, लोककला माँडणे, गोदना, वास्तु कला सौन्दर्य बोध के साथ हमारी संस्कृति को पल्लवित व अनुप्राणित करती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान और परम्पराएँ होती हैं, जो उस क्षेत्र की सौंधी माटी की महक के संग लोक मानस को पुलकित कर देती हैं। लोक के साथ जुड़ी कला, संगीत-नृत्य तथा लोक गाथाएँ, साहित्य एक पीढ़ी को धरोहर के रूप में हस्तांरित होती रहती हैं। भारत का सांस्कृतिक इतिहास अत्यंत गौरवशाली है। तीज-त्यौहार, पर्व-उत्सव, अन्य मांगलिक कार्यों पर हमारी संस्कृति के विविध रूप दिखाई देते हैं।

संस्कृति के साथ भी जीवन, प्रकृति, आस्था, कला व हमारी प्राचीन परम्परायें इस तरह जुड़ी हैं कि बुन्देलखण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों के घर-घर में आज भी बधाई गीत सुने जा सकते हैं। वहीं राई, मोनिया, दिवारी व गणगौर की प्रस्तुति में हमारी लोक संस्कृति की सरिता प्रवाहित होते हुये देखी जा सकती है।

लोक गीत : किसी भी संस्कृति के परिचायक वहाँ के गीत होते हैं। लय, शब्द सुर व ताल का अद्भुत संयोजन लोक गीत हमारी परम्परा व संस्कृति के संवाहक हैं। लोक-जीवन के दर्पण के साथ सामाजिकता का पाठ पढ़ाते हैं। लोक गीतों में देवता, संस्कार, ऋतु, पर्व, रीति-रिवाज व परम्पराओं को शब्दों में पिरोकर बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। लोक में प्रचलित मौखिक परम्परा के अनुसार पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे इन गीतों में आत्मीयता का गहरा रिश्ता होता है। लोकगीतों में जहाँ एक ओर लोक जीवन की मिठास है, वहीं दूसरी ओर जीवन मूल्यों के आदर्श निहित हैं।

लोक गीतों में लोक जीवन की झलक स्पष्टतः दिखाई दे जाती है। लोक गीतों में सोलह संस्कारों के वर्णन के साथ जीवन के सकल आयाम रहते हैं। पुत्र जन्म पर सोहर, बधावा, गोद भराई से लेकर मुण्डन, कर्णछेदन, कुँआपूजन के गीत अब भी ग्रामीण अंचलों में गाए एवं सुने जाते हैं। धीरे-धीरे ग्रामीनौरता, संजा सहेलडी, मामुलिया के गीतों के साथ आल्हा गायन, राछरे व फाग ग्रामीण अंचलों में आज भी सुने जा सकते हैं।

कुआँ पूजन लोक गीत.... ऊपर बादर घहराएँ हो नैचे गोरी पानी खों निकरी।

प्रसूता नारी पहली बार घर से कुआँ पूजन को निकलती है। इस लोक गीत में नारी मन की कोमल भावनाओं को चित्रित किया।

संगीत कला : महा काल जिसके डमरू निनाद से संगीत का आविष्कार हुआ। कृष्ण जिनकी बाँसुरी संगीत, नृत्य का मधुर स्रोत है। महाराज छत्रसाल द्वारा महाकवि भूषण की पालकी उठाना कला का सम्मान है। तानसेन, बैजूबावरा, शहनाईवादक–उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ, सितारवादक–रविशंकर, सरोद वादक–अमजद अली खान एवं विश्वमोहन भट्ट ने अपनी मोहन वीणा के सुरों से पूरे विश्व को चकित और मोहित कर दिया है।

लोक कला : कला ही जीवन है। जीवन की समग्रता सुख–दु:ख, उत्सव–पर्व कलाओं में जीवन्त हैं। आदिवासी क्षेत्रों में कलाएँ इतनी समृद्ध व विविध हैं कि हमें गर्व होता है। समस्त कलाओं का उद्गम लोक जीवन है। प्राकृतिक रंगों से पत्थरों पर उकेरे गये चित्र, खेती करते, मिट्टी ढोते, श्रम करते मजदूरों, स्वस्तिक, सूरज, चाँद व प्राकृतिक चित्रांकन के लयात्मक प्रतीकों व मिथकों में बसा उनका परिकल्पना संसार हमारी चित्रकारी व संगीत का आदि रूप है। भीम बैठका के प्रागैतिहासिक शैलाश्रयों, चट्टानों व गुफाओं पर प्राकृतिक रंगों से बने रेखांकन आदिम युग के मानव की संस्कृति जीवन व कला के प्रति अनुराग का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारतीय लोक कलाओं का इतिहास गौरव पूर्ण रहा है। कोणार्क सूर्य मंदिर, अजन्ता, एलोरा के साथ ताज महल, खजुराहो, भीम बैठका व साँची के स्तूप जैसी विश्व की धरोहरों की लोक कला, स्थापत्य, वास्तुकला ने पूरे विश्व को चकित व आकर्षित किया है। हमारे कुशल शिल्पियों की अद्भुत वास्तुकला ने सौन्दर्य बोध के साथ विश्वबंधुत्व व सौहार्द्रता की भावना का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

गोदना : हमारी लोक कलायें हमारी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती हैं। मानव मन के सौन्दर्य बोध को दर्शाती हैं। सदियों से पूरे विश्व में लोक कलायें अपना रंग बिखेर रही हैं। गोदना हमारी संस्कृति का अनोखा आयाम है। यह पिछड़ेपन की कला न होकर आदिमकाल की संस्कृति का गौरव है। अनावृत अंगों को विभिन्न प्रतीक चिन्हों आकृतियों से सुसज्जित करने की प्रवृति सदियों से चली आ रही है। चौंसठ कलाओं में से अंग आलेख कला में सौन्दर्य प्रेम नर–नारी की अभिरुचि शुरू से ही रही है। इसकी पुष्टि आदिम कालीन गुफाओं के चित्रों से भी होती है।

लोक चित्र : मालवा के चित्र व माँडणें लोक चित्रकला हैं। संजा, नाग गोधन, पिथौरा पारम्परिक लोक चित्र हैं। माँडणें, अल्पना व रंगोली तीज–त्यौहारों में पूरे देश में बनाई जाती हैं। इसमें कहीं गोबर, तो कहीं मिट्टी, गेंहू–आटा, हल्दी, चावल, रंगों व फूलों का इस्तेमाल होता है।

सांझी पर्व में क्रम वार आकृतियाँ बनाई जाती हैं जो पूर्णतया प्रासंगिक तिथियों के क्रम के हिसाब से ज्यामितीय, सूरज, चाँद, स्वस्तिक की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। इन लोक पर्वों से बाल पीढ़ी को सामाजिक जीवन की सीख मिलती है।

साहित्य : ही समाज का दर्पण होता है। हमारा साहित्य अत्यधिक समृद्ध रहा है। देवभाषा संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में एक है। संस्कृत को समस्त भाषाओं की जननी कहा जाता है। संस्कृत

भाषा के मूलत: शब्द जर्मनी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में मिलते हैं। यूरोपीय और दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के सर विलियम जोन्स, मैक्डॉनल, मैक्समूलर, गेटे व चार्ल्स विल्किंस आदि विद्वानों ने संस्कृत के गौरवशाली अतीत से प्रेरित होकर वेदों का अध्ययन, मनन व शोध किया है।

ऋग्वेद पूरे विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। वेद, पुराण, उपनिषद, भगवद्गीता, रामायण व महाभारत ने समूचे विश्व को भारत की संस्कृति, इतिहास, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, अध्यात्म व योग से परिचित कराया। संस्कृत ग्रंथों में खगोलीय, ज्योतिष, दर्शन, धर्म, आयुर्वेद, गणित, चिकित्सा आदि विषयों के ज्ञान के अपार भण्डार को देखते हुए संस्कृत प्रेमी विद्धानों की रुचि प्रारंभ से ही संस्कृत साहित्य में रही है। पश्चिमी देशों में यूरोप के साहित्य कला विज्ञान पर भारतीय संस्कृति पर अमिट प्रभाव पड़ा। विशेषत: भारतीय लोक कलाओं लोक कथाओं, पंचतंत्र, जातक कथा व हितोपदेश का यूरोपी साहित्य में प्रभाव देखा जा सकता है। शुक संतति का फारसी के तूतीनामा के नाम पर अनुवाद लोकप्रिय है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति का सुदूर देशों के साहित्य दर्शन, धर्म, विज्ञान, ज्योतिष, कला संगीत पर असर देखा जा सकता है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य भी समृद्धशाली व प्रेरक रहा है। रामचरित मानस के प्रणेता तुलसी, कबीर, मीराबाई के अलावा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पन्त, महादेवी वर्मा आदि के साहित्य का अपार भण्डार बेहद समृद्ध है। रवीन्द्रनाथ टैगोर को साहित्य में नोबल पुरस्कार मिलना हमारे साहित्य की महत्ता को जतलाता है। रूस में तो कई दशकों से हिन्दी फिल्मों व प्रेमचन्द्र के गबन, गोदान, रंगभूमि आदि पुस्तकों के रूसी भाषा में अनुवाद जताते हैं कि वहाँ हिन्दी साहित्य को लेकर अपार उत्कंठा है। कजाकिस्तान व उजबेकिस्तान के मुस्लिम लोगों में रामायण पढ़ने की परम्परा आज भी देखी जा सकती है। वहाँ रामायण पर आधारित नाटकों के मंचन बेहद लोकप्रिय हैं।

लोक साहित्य लोक मानस की सहज लोक अनुभूति, मानव मन की जीवन्त प्रस्तुति है। लोक फोक से अलग है। जो हमारी वाचिक परंम्परा से युगों-युगों तक लोक मानस में पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत के रूप में दिया जाता है। जन की बोली मुहावरों व कहावतों, कथाओं, गाथाओं, लोक नाट्यों को लोक जीवन में वाचिक परम्परा में पहचान मिली है। लोक साहित्य में ही वाचिक परंम्परा है। कबीर की वाणी, सूफी कवियों, सिख गुरुओं व मीरा बाई की वाणी के प्रवाह ने लोक मानस में अपनी गहरी पैठ बनाई। वाचिक परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांरित होता रहे वही लोक साहित्य है। उल्लास, उमंग, राग, द्वेष, माधुर्य, सौन्दर्य, चंचलता, सहजता, अनुभूति, हर्ष, विषाद की अभिव्यक्ति ही लोक साहित्य है।

हमारे पूर्वजों ने जो संस्कार रीतिरिवाज व परम्पराएँ बनाई हैं। उनके तार्किक एवं वैज्ञानिक कारण हैं। उनमें एक गूढ़ संदेश छिपा है। माथे पर तिलक लगाने से लेकर, सिर में चोटी रखने, माँग में सिंदूर भरने व बिन्दी लगाने के साथ-साथ आभूषणों को पहनने के पीछे वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी तार्किक कारण हैं। गर्भाधान से लेकर नामकरण, अन्न प्राशन, चूड़ाकरण, पाटी पूजन व यज्ञोपवीत जैसे संस्कार बाल मन को संस्कारवान व अनुशासित करते हैं। लेकिन धीरे-धीरे ये संस्कार अब लुप्त होते जा रहे हैं।

विवाह : संस्कार भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। लेकिन आज के दौर में विवाह में होने वाले पुरातन संस्कारों व विधियों को हम धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। मशीनी युग में किसी के पास

समय ही नहीं है। परिजनों, रिश्तेदोरों के साथ-साथ आज वर-वधू के पास अपनी शादी के लिए समय नहीं है। नौकरी पेशा वर-वधू अपनी छुटियों के हिसाब से प्लान बनाकर शादी का मुहूर्त निकालते हैं। वहीं पंडित जी भी शादी-विवाह, पूजा-पाठ संक्षिप्त रूप से ही करा रहे हैं। सीडी, मोबाइल से पूजन, विवाह गीत, व मंत्रोच्चारण में मन में आस्था की अनुभूति नहीं होती जो वाचिक परम्परा में होती है।

पहले घरों में बड़ी, पापड़, अचार बनाने से लेकर गेंहू बीनने का पास-पड़ोस की औरतों को बुलौआ देते थे। विवाह गीतों की मधुर सुर लहरियाँ ढोलक की थाप के साथ गूँज उठती थीं। अब शादी-विवाह जैसे मांगलिक अवसरों पर बजाई जाने वाली शहनाई, ढोलक की थाप, व लोक गीतों की मधुर स्वर लहरी भी डी.जे. के कर्ण कटु सुरों के बीच कहीं गुम हो गई है। आधुनिकता के चकाचौंध में आज की युवा पीढ़ी हमारी लोक परम्पराओं, संस्कृति को छोड़ कर अपनी मूलधारा से दूर होती जा रही है। हमें अपनी जड़ों व संस्कृति को सहेज कर रखना होगा तभी हम अपनी कला, संस्कृति को जीवित रख सकते हैं।

आधुनिकता के दौर में लोक गीतों में बदलाव आया है। लोक गीतों में आधुनिकता, फैशन के नाम पर फूहड़ता को परोसा जा रहा है। जहाँ एक ओर हम पुराने रीतिरिवाज व परम्पराओं को भूल रहे हैं वहीं दूसरी ओर डेज मनाने की परम्परा बढ़ रही है। मदर्स-डे, फादर्स-डे, ग्रेन्ड पैरेन्टस डे, वूमन्स डे, फ्रेन्ड शिप डे, वेलेन्टाइन डे के अलावा हमारे तीज त्योहार भी दिनों दिन हाई टेक होते जा रहे हैं। प्रदर्शन व दिखावे के चलते करवा चौथ, गणगौर, नवरात्रि, दीपावली, रक्षा बन्धन के त्यौहार गिफ्ट, सजावट व चमक-दमक के बीच अपने मूल स्वरूप, गरिमा व अपनत्व की भावना को खोते जा रहे हैं।

टी.वी, इन्टरनेट व मीडिया के बढ़ते प्रभाव ने हमारी संस्कृति, कला व साहित्य को प्रभावित किया है। टूटते, बिखरते संयुक्त परिवार, शहरीकरण की भागदौड़ ने हमारे समाज की मान्यताओं, परम्पराओं व नैतिक मूल्यों व संस्कारों को किसी हद तक ठहराव व अवमूल्यन के धरातल पर ला दिया है। भारतीय संस्कृति की धुरी कहे जाने वाले पारिवारिक रिश्तों में न तो आज आपसी ताल मेल सामजंस्य की भावना बची है न ही मर्यादा और संस्कार व जीवन मूल्य बचे हैं। पाश्चात्य संस्कृति, वैश्वीकरण के बढ़ते मोह पाश ने आज समूचे समाज में परिवर्तन किया है।

वैश्वीकरण के दौर में जाति प्रथा, कठोरता लुप्त हो रही है। वहीं सामाजिक कुरीतियाँ बाल विवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा पर अंकुश लगा। बालिका शिक्षा को बढ़ावा मिला है। नारी सशक्तिकरण के चलते महिलाओं ने हर क्षेत्र में अपनी पहचान बनाई है। लेकिन हमारे पारिवारिक, मूल्यों में तेजी से गिरावट आ रही है। पूरे विश्व में वसुधैव कुटुम्बकम्, परिवारवाद के आदर्श, मूल्यों व संस्कारों की सीख देने वाले हमारी सोच, मानसिकता बदलती जा रही है। संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। संयुक्त परिवारों ने एकल परिवारों का रूप ले लिया है। परिवार के बुजुर्गों को वृद्धाश्रम की राह दिखाई जा रही है।

प्रान्तीय देशज लोक भाषाएँ दम तोड़ती नज़र आ रही हैं। एस.एम.एस व ई-मेल में प्रयोग में ली जाने वाली भाषा ने हमारी राष्ट्र भाषा हिन्दी को भी तोड़-मरोड़ कर रख दिया है। प्रदर्शन की चाह में हम अंग्रेजी बोलने में गर्व का अनुभव करते हैं जबकि विदेशी विद्वान भारतीय संस्कृति व सभ्यता से प्रभावित होकर आज भी हिन्दी एवं संस्कृत सीखने की कोशिश कर रहे हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत व नृत्य में आज की पीढ़ी की रुचि कम होती जा रही है। टीवी के रियलिटी शोज में अपसंस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। फ्यूजन के जमाने में लोकगीतों व फिल्मी गीतों को भी गलत कर प्रस्तुति पुरातन लोक संस्कृति के लिये घातक सिद्ध हो सकती है।

हमें अपने क्षेत्र, अंचल की भाषा बोलने में शर्म महसूस होती है। जबकि हमारी क्षेत्रीय बोलियाँ बेहद समृद्ध, मिठास युक्त हैं। बुन्देली, निमाड़ी, मालवी, भोजपुरी, भीली, राजस्थानी, बृज भाषा सभी अपनी जमीन से जोड़ती हैं पर आधुनिकता की दौड़ में पुरातन संस्कारों से दूर होते चले जा रहे हैं।

'आज की बाल पीढ़ी भी अपने संस्कार भूलती जा रही है। शिक्षा से नैतिकता, आदर्श व जीवन मूल्य विलुप्त हो रहे हैं। अंकों की प्रतिस्पृर्द्धा व कैरियर के चक्रव्यूह में बच्चों का बचपन सिमट कर रह गया है। माटी की महक से जुड़े हमारे लोक गीत, लोक नृत्य, लोक कलाएँ अपने मौलिक स्वरूप को खो रही हैं। बाहरी चमक-दमक दिखावे की संस्कृति व भौतिकवाद ने हमें अपनी जड़ों से दूर कर दिया है। लोक कला गोदना ने बॉडी पेंटिंग टैटू का आधुनिक रूप धारण कर लिया है। गोदना, टैटू में युवा पीढ़ी की रुचि फैशन के रूप में बढ़ रही है।

दादा-दादी, नाना-नानी से सुनी लोक कथायें अब दिवा स्वप्न सी प्रतीत होती हैं। कहावतें, लोकोक्तियों से हमारी बाल पीढ़ी दूर होती जा रही है। तुलसी के मानस की चौपाई, दोहे, प्रेमचंद के होरी व हीरा-मोती, संस्कृत के श्लोक, मंत्र शायद ही आज की पीढ़ी को याद हों पर इसमें बच्चों का दोष नहीं हैं। बल्कि हम स्वयं जिम्मेदार हैं। क्योंकि आज आधुनिकता की दौड़ में हम दिखावे की संस्कृति को अपना रहे हैं। अपनी पुरातन संस्कृति को भूलते जा रहे हैं।

पहले हम छोटी-छोटी खुशियाँ अपने घर-परिवार, पास-पड़ोस में बाँटते थे। थोड़ी सी हँसी, मुस्कुराहट हमें झूमने पर मजबूर कर देती थी। पर तनाव भरी जिन्दगी में आज हमें न तो होली के रंगों की बौछार में सराबोर होने की चाहत रहती है न ही दीवाली में माटी के दिए हमारे मन के अंधकार को दूर कर पाते हैं। आखिर ऐसा क्यों हम अपने रिश्तों में दूरी बनाते हुऐ पारिवारिक मूल्यों को खो रहे हैं।

एक सुखद पहलू : म.प्र.स्कूल शिक्षा विभाग द्वारा आयोजित बाल रंग राष्ट्रीय एकता के मंच कार्यक्रमों में समूचे देश के साथ पड़ोसी राज्यों के बच्चे भी शामिल होते हैं। नृत्य संगीत कला की रंगारंग प्रस्तुति जहाँ बच्चों का मानसिक-बौंद्धिक विकास करती है वहीं उनमें रचनात्मक-सृजनात्मक प्रवृत्ति के साथ राष्ट्रीय प्रेम व भाईचारे की भावना जागृत करती है। बाल पीढ़ी में भारतीय कला, व सस्कृति की जड़ें गहरी करेगी। साथ ही आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी मध्य प्रदेश, जनजातीय संग्रहालय एवं भारत भवन कला, संस्कृति और लोक साहित्य को एक नये आयाम, नई दिशा देने की सार्थक भूमिका निभा रहा है। विश्व हिन्दी सम्मेलन एवं सिंहस्थ कुंभ के आयोजनों ने समूचे विश्व में भारतीय संस्कृति को नूतन स्पन्दन दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सोहार्द्रता व, एकता का संदेश प्रेषित किया है।

अपेक्षा : आखिर हम अपने परम्परागत रीति-रिवाज अपनी संस्कृति को क्यों भूलते जा रहे हैं। ये बात निश्चित ही विचार, मनन करने योग्य है। आने वाली पीढ़ी को हम विरासत में आखिर क्या देने वाले हैं? इस पर हमें गंभीरता पूर्वक सोचना होगा।

आवश्यकता है टूटते संयुक्त परिवारों को समेटने की, जोड़ने की ताकि पारिवारिक रिश्तों की

बुनियाद मजबूत हो सके। हमारे बुजुर्गों को सम्मान, प्यार व अपनापन मिल सके जिसके वे असल में हकदार हैं। पुरातन संस्कृति को नूतन परम्पराओं के साथ जोड़ते हुये हमें आगे बढ़ना होगा। तभी हमारे जीवन को सही व सार्थक दिशा मिल सकती है। हमें अपने साहित्य को समृद्ध बनाना होगा। पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा व जीवन मूल्यों को शामिल करना होगा।

परिवर्तन प्रकृति, सृष्टि का नियम है। प्रगति व उन्नति के लिये समय के साथ चलना बेहद जरूरी है। हमारी युवा पीढ़ी बेहद समझदार, बुद्धिमान व मेहनती है। पूरे विश्व में भारतीय युवा इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिकों की माँग है। ऐसे में आवश्यकता है आज की पीढ़ी को सही दिशा व नई राह दिखाने की। हमें दूसरों की संस्कृति कला व साहित्य से सार्थक बातें अपनाते हुये अपनी परम्पराओं, कला, साहित्य व संस्कृति को समृद्ध बनाते हुये उसे संरक्षित व पोषित करना होगा। हमारी आत्मा का सौन्दर्य, जीवन्तता, खुशियों को हमें एक बार पुनः ढूँढ़ना होगा, तलाशना होगा। तभी हम सच्चे अर्थों में एक नये युग का आह्वान करते हुये समूचे विश्व में अपने राष्ट्र के गौरवशाली अस्तित्व का परिदृश्य प्रस्तुत कर सकते हैं।

असतो मा सद्मय। तमसो मा ज्योर्तिगमय। मृत्योंमा अमृतम् गमय।

सम्पर्क : *भोपाल (म.प्र.)*
मो. 9407124018

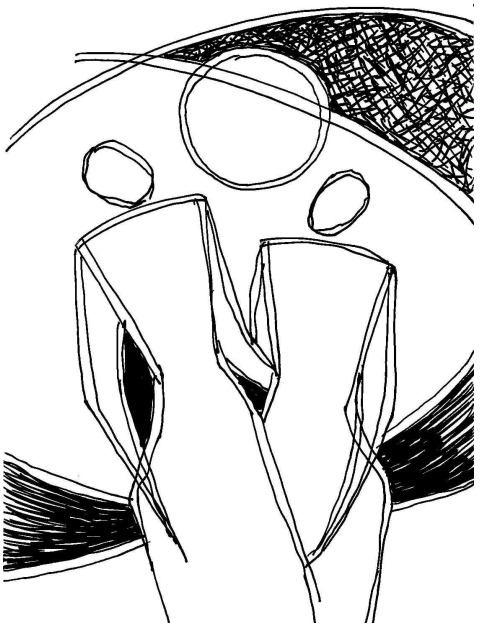

डॉ. सुनीता खत्री

मानवीय संवेदनाओं की पैरोकार : मालती जोशी

स्वतंत्रता के बाद स्त्री शिक्षा की दर में गुणात्मक वृद्धि हुई है। जिसके कारण स्त्री सम्वेदनशील और निर्भीक होने के साथ ही अपने अधिकारों के प्रति सजग व जागरूक हुई है। एक ओर तेजी से बदलते जीवन मूल्य हैं और दूसरी ओर परम्परागत संस्कार। भारतीय समाज में नारी चेतना निरंतर अघोषित आंदोलन के रूप में विद्यमान और गतिमान है। परिणाम स्वरूप महिला लेखन और महिला समस्याओं में एक प्रामाणिक रिश्ता प्रकट होता है, जो महिला लेखन को विश्वसनीय बनाता है।

मालती जोशी हिंदी की लोकप्रिय और वरिष्ठ लेखिका के रूप में समादृत हैं। वर्ष 1971 में धर्मयुग में प्रकाशित कहानी ने उन्हें एक सशक्त कथाकार के रूप में पहचान दिलायी। तब से लेकर आज तक उनकी कहानियाँ हिंदी की लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। पाठक उनकी अगली रचना का बहुत ही उत्सुकता से इन्तज़ार करते हैं। मालती जी की कहानियाँ किसी भी प्रकार के चमत्कार या आडम्बर से सर्वथा दूर जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं पर केंद्रित होती हैं। कहानियों के बारे में पूछे जाने पर वे हमेशा यह कहती हैं-'जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों को, स्मरणीय क्षणों को मैं अपनी कहानी में पिरोती हूँ। ये अनुभूतियाँ कभी मेरी अपनी होती हैं, कभी मेरे अपनों की। इन अपनों की संख्या और परिधि बहुत विस्तृत है। वैसे भी लेखक के मन में आप-पर का भाव तो रहता ही नहीं है। अपने आसपास बिखरे जगत का सुख-दु:ख उसी का हो जाता है। और शायद इसीलिए मेरी अधिकांश कहानियाँ 'मैं' से शुरू होती हैं।'

इसीलिए मालती जी की कहानियों के पात्र बहुत जाने-पहचाने से, अपने ही बीच के लगते हैं। ऐसा लगता है कि वे हमारे परिवार, हमारे पास-पड़ोस या रिश्तों की ही बात कर रही हैं। कहानी के पात्रों की दुविधाओं, चिंताओं, दु:ख-सुख का हिस्सा हम स्वयं बन जाते हैं। उनकी उपलब्धियाँ हमारी उपलब्धियाँ बन जाती हैं।

परिवेशजन्य चिंताओं से जुड़कर ही एक अच्छी रचना की निर्मिति सम्भव हो पाती है। अपने सामाजिक सरोकारों को, बड़ी से बड़ी बात को, सहज-सरल भाषा में कहने में मालती जी निपुण हैं। सहजता से कही गयी उनकी बात पाठक के मन में अपनी पैठ बना लेती है। पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि इन भावनाओं के लिए इससे बेहतर शब्द प्रयोग ही नहीं हो सकते। मानव मन की परतों को बड़ी सूक्ष्मता

से अनावृत्त कर वे पाठकों को उसकी तह तक ले जाती हैं। उनकी यह शालीन सहजता ही उनकी कहानियों का प्राण तत्त्व है।

औद्योगिक और तकनीकी विकास की द्रुत प्रक्रिया के कारण समाज में बड़ी तेज़ी से बदलाव हो रहे हैं। समाज तथा जीवन में यह परिवर्तन सहज ही लक्षित किए जा सकते हैं। अधिकांश कहानीकार तटस्थ भाव से इन परिवर्तनों को देखते हैं फिर वह स्थितियाँ या घटनायें उनकी कहानियों का हिस्सा बनती हैं। पर मालती जी का कहानीकार जीवन की उन स्थितियों का सहभोक्ता होता है। वे उन क्षणों को जीती हैं और उन्हें समय और परिवेश के वृहत्तर पश्नों से जोड़कर अपनी कहानी में प्रस्तुत करती हैं। समाज के मन में उठने वाले प्रश्नों की तलाश या प्रश्नाकुलता ही उनकी कहानी का उत्स होती है। मानव मन की परतों को पर्त दर पर्त खोलकर प्रस्तुत करना और उसकी चिंताओं और सरोकारों से अपने पाठकों को साक्षात्कृत कराना ही एक समर्थ रचनाकार का ध्येय होता है। समाधान तो पाठक फिर स्वयं तलाश लेते हैं।

हर घर की कहानी एक सी ही होती है-थोड़ा प्रेम, थोड़ी खुशियाँ, थोड़ी ज़िम्मेदारियाँ या फिर कुछ लालसाएँ, इच्छाएँ या सपने। जब ये सपने पूरे नहीं होते तब विक्षोभ होता है। यह विक्षोभ या आक्रोश आपसी सम्बन्धों को प्रभावित करता है। समाधान की एक छोटी सी किरण भी सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने को आतुर हो उठती है।

सत्तर के दशक से हिंदी के साहित्यकारों ने महिलाओं की समस्याओं को प्रमुखता से अपनी रचनाओं में उठाया। बहुत से साहित्यकारों द्वारा स्त्री-विमर्श को स्त्री की (देह) मुक्ति का पर्याय मानते हुए छद्म लेखन को बढ़ावा दिया गया।

ऐसे संक्रमणशील समय में-स्त्री विमर्श की चौहद्दियों के झमेले में न पड़ते हुये मालती जी ने स्त्री की अंतश्चेतना, संवेदना व उसके मनोभावों को बहुत ही सम्वेदनशीलता के साथ अपनी कहानियों में पिरोया है। स्त्री का सुख-दुख, मान-सम्मान, प्रेम तिरस्कार आदि दृश्य उनकी कहानियों को पढ़ते ही सजीव हो उठते हैं। स्त्री को धारदार औजार की नहीं उस सुई की आवश्यकता होती है जो संतुलित जुड़ाव करने में समर्थ हो।

मालती जी कहानियाँ स्त्री को जागरूक बनाने, उसे समयानुकूल पहचान दिलाने की कहानियाँ हैं, और वे भी उसे अपनी परम्पराओं और संस्कारों से उच्छेदित किये बिना उसकी गरिमा और गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए।...

वर्तमान समय में पुरुष के जीवन में भी प्रच्छन्न संकट का दौर चल रहा है। वह निरंतर समझने की कोशिश कर रहा है कि स्त्रियों की बदलती हुई भूमिका से उपजी हुई स्थितियों में वह परिवार में सुख शांति के निर्माण में कैसे सहभागी बन सकता है। पुरुष का यह अंतर्द्वंद्व उनकी कहानी 'उसने नहीं कहा' में हम देखते हैं। यह कहानी भारतीय मध्यवर्गीय परिवार की सीमित संसाधनों में गुजारा करने की कहानी है। यह कहानी साधारण होकर भी असाधारण है, क्योंकि यह पिता-पुत्र के संवाद के माध्यम से स्त्री के त्याग, परिश्रम, कठिनाई, अवहेलना की बात उठाती है।

एक भारतीय स्त्री के लिए आज भी उसका घर, परिवार पति और बच्चे प्राथमिकता होते हैं।

उसकी इच्छायें, आकांक्षाएँ, सपने और उसको पहचान दिलाने वाली रचनात्मकता का नम्बर सबसे बाद में आता है। हालाँकि मालती जी की रचनाओं में स्त्री अपनी बात रखती है, पर एक शालीनता और शिष्टता अपरिहार्य रूप से उसमें विद्यमान रहती है।

उनकी कहानियों में नौकरीपेशा महिलाओं के मानसिक संत्रास, रिश्तों और सामाजिक संबंधों को निभाने की विवशता, उसका संघर्षपूर्ण जीवन, सभी का बहुत ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देखने मिलता है। आज के समय में महिलायें पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही हैं। घर और बाहर दोनों की जिम्मेदारी निभा रही हैं। नौकरीपेशा स्त्री के ऊपर लिखी उनकी कहानी 'मध्यांतर' 1974 में प्रकाशित हुई थी। उसकी मन:स्थिति उसके भावात्मक संघर्ष, नौकरशाही तंत्र में पिसने की लाचारी जैसी समस्याओं के विविध पक्षों को बड़ी ही गंभीरता के साथ उसमें उठाया गया है। उनकी पर्यवेक्षक दृष्टि से शायद ही कोई पक्ष ओझल हुआ हो। कामकाजी स्त्रियों की घर और बाहर में संतुलन बैठाती जिंदगी और उसके तनावों को पाठक महसूस कर पाते हैं।

उनकी कहानियों की सरलता और सादगी के कारण महिलाओं का एक बड़ा वर्ग उनसे जुड़ पाता है। जीवन के विविध रंगों में रँगे जीवन की कहानियाँ ही तो हैं, मालती जी की कहानियाँ। हमारे परिवारों में जो घटित हो रहा है, हमारे आस-पास जो घट रहा है वह सब सहजता से भाषा की रवानगी के साथ कहानी में घटता जाता है। मध्यमवर्गीय परिवार की पीड़ा मान-सम्मान और अनुभव ही तो उनकी कहानी का हिस्सा हैं। मानवीय जीवन की समस्याओं को अपनी कहानी में प्रस्तुत करते हुए भी वे उनके संवेदनशील उजले पक्ष को विशेष रूप से चिञ्हित कर एक सहृदय समाज की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं। जिसके कारण महिलाओं का एक बड़ा वर्ग उनसे जुड़ पाता है।

कहना न होगा कि बिना किसी खेमे या वाद-विवाद में पड़े मालती जी ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। वे पिछले 50 वर्षों से अपने पाठकों के दिलों में राज कर रही हैं। भारतीय समाज और परम्पराओं की प्रतिनिधि कथाकार मालती जी बहुपठित और बहुप्रशंसित होने के बाद आज भी बहुत सहज और सुलभ हैं। उनका व्यक्तित्व अपनी आत्मीयता की सुवास से हर मिलने वाले को लम्बे समय तक सुवासित करता रहता है।

वे शतायु हों और इसी प्रकार स्वस्थ और क्रियाशील रहते हुए हम पर अपना स्नेह लुटाती रहें, यही कामना है।

सम्पर्क : *भोपाल (म. प्र.)*
मो. 9406569266

डॉ. पुष्पा रानी गर्ग

मेरे आँगन के नीम दादा

नीम के पेड़ की बात करते समय मुझे सबसे पहले यह विचार आता है कि सृष्टिकर्ता ने सबसे पहले पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ बनाई होंगी, धरती को हरियाली से आच्छादित किया होगा, तब मनुष्य की सृष्टि की होगी। कहते हैं मनुष्य सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना है, लेकिन ये पेड़-पौधे भी तो प्रकृति की अद्‌भुत रचना हैं जैसे सृष्टि के महाकाव्य के लयात्मक छंदों के शब्द हों। अपनी विविधवर्णी सुन्दरता से मन को मोह लेने वाले, अपने रूप आकर्षण से आँखों को मालामाल करने वाले। सच में मनुष्य पहली बार इनके संसर्ग में आया होगा तो अपना अकेलापन भूल गया होगा। तरह-तरह की रूप सज्जा से सज्जित ये पेड़ धरती पर जड़ें जमाकर खड़े हुए, निरन्तर ऊर्ध्वगामी, मानो मौलिकता और अध्यात्म के बीच एक सेतु का निर्माण कर हमें जीवन का पाठ पढ़ा रहे हों।

ये पेड़ हमारी अरण्य संस्कृति के संवाहक हैं। हमारा जीवन पेड़ों के बिना अधूरा है। पेड़ ही अरण्य में हमारे संगी साथी हुए। हमारी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पंचमूलों का समुच्चय ही तो हैं ये पेड़। अन्तर केवल इतना कि हम चल फिर सकते हैं, पेड़ एक जगह जड़ें जमाकर स्थिर खड़े हुए संवेदना और भावनाओं से युक्त।

इन पेड़ों के सान्निध्य में ही हमारी संस्कृति का विकास हुआ। इन पेड़ों से ही सामग्री लेकर ऋषियों ने अपने लिए आश्रम और कुटियाँ बनाईं। इन पेड़ों के नीचे ही हमारे आर्ष ऋर्षियों को ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें मंत्रों के दर्शन हुए और वे मन्त्रदृष्टा कहलाए। बड़, पीपल, गूलर, नीम आदि ऐसे ही पेड़ हैं जो वर्षों जीवित रहते हैं और अरण्यवासी ऋषियों की अध्यात्म साधना के साक्षी बनते हैं। इन पेड़ों ने ध्यानावस्थित ऋषियों को अपने गुणधर्म से परिचत कराया, उन्हें भोजन भी दिया, उनका तन भी ढका। पेड़ों की उपयोगिता के कारण ही हमारे यहाँ प्राचीन काल से अरण्य संस्कृति को महत्त्व दिया गया और पेड़ों की परिवार के सदस्य की भाँति रक्षा की गई।

हमारे यहाँ जब बस्तियाँ बसीं, ग्राम बसे, तब भी अरण्य संस्कृति का परित्याग नहीं किया गया। ग्राम वासियों ने पेड़ों की महत्ता को बिसराया नहीं, उन्होंने बाग-बगीचे लगाए, साथ ही घर के आँगन में भी पेड़ लगाए। आम और नीम तो जैसे हर घर को हरियाली से वेष्टित कर उसकी शोभा बढ़ाने लगे। हर कच्चे-पक्के घर की शोभा में इन पेड़ों ने चार चाँद लगा दिए। आम के विषय में तो ऐसा कहा जाता है कि

उसे पालना एक पुत्र को पालने के बराबर है। यदि किसी के पुत्र नहीं है तो वह कम से कम एक आम का पेड़ अवश्य लगाए क्योंकि आम के पत्तों से झरकर जो वर्षा का जल नीचे गिरता है उससे घर के पूर्वज तृप्त होते हैं।

परन्तु नीम भी आम से किसी प्रकार की कम नहीं। इसके पास भी आम के बौर की तरह खुशबू का खजाना है। गर्मियों में जब इसकी डालों की फुनगियों पर नन्हें-नन्हें श्वेत पुष्पों के गुच्छे सज जाते हैं तब उनकी खुशबू से मन भीतर तक आह्लाद से भर जाता है। जाने क्यों अब तक कवियों का ध्यान इसकी तरफ नहीं गया। नीम तो अपने आप में सद्‌गुणों का पिटारा है। इसकी महत्ता को जानकर हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने घर के आँगन के साथ-साथ सड़कों के किनारे भी नीम रोप दिए। ये सड़कों पर अबाध गति से बढ़ते रहे। धीरे-धीरे सड़क के दोनों ओर के नीम आपस में हाथ मिलाकर खड़े हो गए। जिससे सड़कों पर घनेरी छाया भी हो गई और यात्रियों के लिए शुद्ध प्राणवायु के खजाने भी खुल गए।

हमारी संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण बात यह कि धार के बड़े-बूढ़ों ने बच्चों को पेड़ों का सम्मान करने के संस्कार दिए। उन्हें सिखाया कि हमारी तरह पेड़ भी साँस लेते हैं रात को सोते हैं, अतः साँझ पड़ने के बाद पेड़ों को छेड़ना नहीं। उनके फूल, फल पत्ते आदि तोड़ना नहीं। इससे उनकी नींद में खलल पड़ता है। नीम के पेड़ पर झूला डलता तो यह निर्देश दिया जाता कि साँझ के बाद झूला नहीं झूलना। पेड़ को आराम करने देना। फिर भी बच्चे झूलते रहते तो उन्हें डाँट कर झूले से उतार दिया जाता।

अरे हाँ, झूले की बात करते हुए मुझे नानी के आँगन का नीम याद आ गया। उसे नानी के दादा ससुर ने लगाया था, खूब मोटा सा तना, मोटी-मोटी डालियाँ, बड़ा छतनार, दमकती हरियाली से भरपूर। हम गर्मियों, जब भी नानी के यहाँ जाते, नानी नीम की डाली पर झूला डलवा देतीं। नाना जी कहते, 'क्यों बच्चों को गर्मी में झूला झूलने का कहती हो?' नानी कहतीं अरे बाबा, बच्चों को गर्मी कहाँ लगती है? देखो न झूले पर कितने खुश दिखाई दे रहे हैं। वैसे भी यह नीम कितना हरा-भरा है। इसके नीचे छाया भी खूब है। फिर कैसे गर्मी लगेगी बच्चों को? 'ठीक है भई तुमही सही हो' यूँ ओसारे में नानी और नानाजी चोंच लड़ाते और हम बच्चे झूलते रहते।

हमारी नानी ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं। बस वे रामायण बाँच लेतीं। दोपहरी में हम बच्चे झूलते नानी रामायण लेकर बैठ जातीं। बीच-बीच में हमारी तरफ देख लेतीं। उनका देखना भर ही हमें नियन्त्रण में रखता। नानी को नाराज करना, अर्थात् झूले का उतर जाना।

वो उछलता कूदता रोज नई शैतानियाँ करता प्यार भरी झिड़कियाँ खाता बचपन जाने कब हवा हो गया। नीम पर आज भी झूला डलता है लेकिन बचपन की वह मस्ती, वह अल्हड़पन कहीं खो गया। परन्तु नीम दादा से अब भी हमारी दोस्ती है। मेरे आँगन में भी बड़ा सा नीम है। वह हमें अपने परिवार के सदस्य जैसा लगता है। हम उसे नीम दादा कहते हैं। वह हरदम प्यार से बाँहें फैलाए, लाड़ लड़ाने को आतुर झूला झूलने का आमन्त्रण देता है। झूला देखते ही मेरा उम्र का बड़प्पन जाने कहाँ काफूर हो जाता है। मन मचलने लगता है, झूले पर पेंग लेने के लिए।

एक दिन की बात बताऊँ, कि मैं झूले की पटरी पर बैठने लगी कि नीम दादा कुछ कहने लगे। पेड़ो को भगवान ने वाकेन्द्रिय तो दी नहीं, फिर भी वे बोलते हैं। बस उन्हें सुनने की श्रवणेन्द्रिय चाहिए।

मैं नीम के नीचे खड़ी थी कि मेरे कानों में धीमी सी आवाज आई। 'सुनो बिटिया...' अरे यह तो नीम दादा कुछ कह रहे हैं। वे वोले, 'बिटिया क्या अब भी तुम्हें मुझसे प्यार है?' मैं तुरन्त बोल पड़ी, 'हाँ नीम दादा, सचमुच मुझे तुमसे बहुत प्यार है। अब भी मैं तुम्हारी डाल पर झूलती हूँ और बचपन की यादों में खो जाती हूँ।' तुम तो मेरे मन में बसे हो। सुनो नीम दादा मैंने तुम पर कई कविताएँ लिखीं हैं।' यह सुनते ही नीम दादा की आवाज में जैसे खनक आ गई। वे आश्चर्य से बोले, अच्छा बिटिया, मुझ कड़वे पेड़ पर भी तुमने कविता लिखी है? अच्छा एक कविता सुनाओ तो...।'

मैंने उत्साहित होकर कविता सुनाई- 'आग पिटारी//धरे शीश पर/आसमान में/सूरज चलता/धरती के/सीने में आग/अपने तो/तन-मन में आग/ऐसे में/यह कडुवा नीम/बाँट रहा है। ठंडी छाँव /घर के बूढ़े/ बाबा जैसा/इस हरियाले/नीम तले/कुछ ठंडक पीलें/पल भर जी लें। '

मेरी कविता सुनकर नीम दादा प्रसन्न भी हुए और उदास भी। बोले 'सच है बिटिया, मैं सिर से पाँव तक कडुवा हूँ।' मैंने कहा नीम दादा, यह कडुवापन ही तो आपकी सबसे बड़ी विशेषता, सबसे बड़ा सद्‌गुण है। आपके अन्दर कितनी खूबियाँ हैं। आप सबको मीठी-मीठी ठण्डी छाया बाँटते हो, शुद्ध स्वास्थ्यवर्धक प्राणवायु देते हो और नीलकंठ की तरह हवा का सारा जहर स्वयं पी लेते हो। आपके पत्ते, आपकी डाल, आपकी छाल सबका दवा के रूप में उपयोग होता है। आपको याद नहीं, मेरी नानी नीम की दातौन से ही दाँत साफ करती थीं। उनके जब फोड़े-फुंसियाँ हो जातीं वे डाक्टर की गोली नहीं खाती थीं, बस आपकी पत्तियाँ चबा लेतीं। उससे उनके दाँत भी स्वस्थ रहते और रक्त भी शुद्ध हो जाता। और हाँ नीम दादा, मेरी छोटी बहन का बचपन में कान बहता था तो दादी ने थोड़ा सा आपकी छाल का पाउडरकान में डाला था तो। उससे उसका कान बहना बंद हो गया था। एक बार मेरे पूरे शरीर पर पित्ती उभर आई थी तो अम्मा ने पानी में नीम की पत्तियाँ उबाल कर उस पानी से मुझे नहलाया था।

नीम दादा बोले, 'सच बिटिया...?' मैंने कहा, हाँ! नीम दादा! आज कल तो आपके पत्तों, छाल जड़ों से दवाइयाँ बनाने के लिए बड़े-बड़े देश पेटेन्ट लेने की होड़ में हैं। आपकी निम्बोली से बना तेल भी कितना उपयोगी है। आप तो पूरे के पूरे महौषधि रूप हैं।

मैं बातें कर ही रही थी कि एक छोटी सी बच्ची जोर-जोर से गीत गाती हुई आई। नीम की निम्बोली, नानी मेरी भोली। गाते-गाते नीम के नीचे गिरी पीली-पीली पकी निबोली बीनने लगी तभी मेरा ध्यान गया कि यह तो सावन का महीना है। नीम की निबोलियाँ पककर मिठास से भर गई हैं। वर्षा के पानी में भीग कर नीम का हरा पन कुछ ज्यादा ही चमक उठा है। छोटी-छोटी पत्तियों से झरती बूँदें देखकर ऐसा लग रहा है मानो नीम धरती माँ को अपनी श्रद्धा का अर्घ्य चढ़ा रहा है। नीम की पतली लचीली डालियाँ हवा के साथ झूम-झूम कर नृत्य कर रही हैं। यह सब देख कर मेरा मन भी झूम उठा। मैंने कहा, नीम दादा, नीम दादा, आप केवल कडुवे नहीं, मीठे भी हैं। देखो न, आपकी ये निबोलियाँ कितनी मीठी हैं। आपकी ये कडुवास आप का सच है तो निबोली की मिठास भी आप ही का सच है।',

नीम दादा ने धीरे से 'हूँ' कहा और चुप हो गए। मैंने फिर कहा, 'नीम दादा, एक बात और बताऊँ?' हमारे यहाँ भारतीय नव वर्ष के प्रथम दिन चैत्र सुदी एकम को मिश्री के साथ नीम की पत्ती पीस कर खाने की परम्परा है? इसे बड़ा शुभ माना जाता है और स्वास्थ्य रक्षक भी। दादा हमारे जीवन में कितने

ही अवसरों पर आपसे ही शुभ का संधान होता है। विवाह के अवसर पर जब दूल्हा घोड़ी कर चढ़ कर बारात लेकर दुलहिन के घर जाता है तब नीम की डंडी से ही तोरन मारता है। विवाह के पूर्व का यह प्रथम सगुनाचार तो आप ही कराते हो। और तो और जब घर की बड़ी-बूढ़ियाँ, सुहागिनें मंगल बधावे गाती हैं तब भी आपका नाम लेना नहीं भूलतीं।

थे बढ़जो ए वीरा
बड़ औ पीपल ज्यों
बढ़जो से कड़वा नीम ज्यों

और जब नई नवेली बहू घर की सुहागिनों के साथ किसी बगीचे में जाकर 'नीम छड़ी' का खेल खेलती है उस समय के आनन्द के क्या कहने। दूल्हा-दुल्हिन दोनों के हाथ में नीम की कोमल डंडी होती है। उससे वे दोनों घूम-घूम कर एक-दूसरे को मारते हैं। यह परिहास भरा खेल उन दोनों के नये प्रेम भरे रिश्ते की शुरुआत बन जाता है। मेरे प्यारे नीम दादा आप तो हमारी रीति रिवाजों, परम्पराओं के अभिन्न हिस्से हो। हमारी संस्कृति आपकी रग-रग में बसी है।

मेरी बातें सुन कर नीम दादा बोले, 'बिटिया, सच में तुम्हारी बातें सुनकर बड़ा सुकून मिला। वरना मैं तो अपने साथियों के बिछुड़ने से बहुत दुखी था।' मैंने एक लम्बी साँस भरते हुए कहा, 'मुझे याद है पिछले सप्ताह सड़क किनारे खड़े कई नीम के पेड़ों को विकास के नाम पर काट दिया गया। सड़कें सूनी हो गई थीं। पक्षी उन पेड़ों की असमय मौत पर चें-चें करते हुए हवा में चक्कर लगा रहे थे। धरती की देह पर तना छत्र उजड़ गया था। मैं क्या कहूँ। उन पेड़ों की एक-एक डाल कटती थी, मेरे दिल से गहरी कराह निकलती थी। ऐसा लग रहा था। जैसे सड़क पर खड़े प्रहरियों का एक-एक अंग काटकर उन्हें मौत के घाट उतारा जा रहा है। माँ का आँचल तार-तार किया जा रहा है। वह दृश्य याद कर आज भी दिल रोने-रोने को करता है।'

मेरी आँखों नम हो आई थी। इतने में एक कोयल उड़ती हुई आई और नीम की डाली पर बैठ कुहू-कुहू का स्वर छेड़ने लगी। मैंने बोलना बंद कर दिया और उसकी मीठी तान सुनने लगी। उधर नीम दादा भी उदासी भूलकर कोयल की रसभरी पंचम सुनने में डूब गए। उस समय मेरा मन हो रहा था कि इस कोयल से पूछूँ, 'क्या तुम भी इस कड़वे नीम की निबोली की मिठास चखने इसकी डाली पर बैठी हो।'

सम्पर्क : *इंदौर (म.प्र.)*
मो. 9826502109

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

प्रभाकर माचवे

आज से अट्ठावन (58) वर्ष पूर्व 'नयी कविता' की प्रवृत्तियों पर विचार करने तथा छन्द और तुक की निस्सारता सिद्ध करने के क्रम में मुझे एक कवितांश बहुत प्रीतिकर लगा और एक-दो बार पढ़ते ही याद हो गया था। वह कवितांश था-

'दर्द मिला मुझको बिन माँगे, अब क्या मागूँ और,
मेरे मीत, गीत की लय, लौ टूट गयी इस ठौर,
गान अधूरा रहे भटकता परिणति को बेचैन-
केवल तुक लेकर क्या होगा, गौर बौर, लाहौर।'

इस कवितांश के कवि थे- प्रभाकर माचवे। यहीं उनसे मेरा पहला परिचय हुआ था। तब मैं एम.ए. का छात्र था। उत्तर भारतीय होने के कारण मुझे उनके नाम का उत्तरार्ध 'माचवे' कुछ अटपटा-सा लगा था। अपने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से उनकी एक पुस्तक 'खरगोश के सींग' निकलवायी और पढ़ी। उनका एक उपन्यास भी पढ़ा। रेल-यात्रा करने के क्रम में ए.एच.ह्वीलर के बुक-स्टॉल पर मुझे उनकी एक और पुस्तक 'भारत की चौदह भाषाएँ' दीख गयी थी। उसे मैंने उत्सुकतावश हाथ में लिया और उलट-पुलट कर देखा, तो लेखक थे प्रभाकर माचवे। मेरे मन में उनके प्रति समादर भाव-सा जगा। यह व्यक्ति भारत की तत्कालीन सरकार द्वारा मान्य चौदह भाषाओं का ज्ञाता है और उस पर पूरी पुस्तक लिख गया है। हिन्द पाकेट बुक्स से प्रकाशित यह पुस्तक उन दिनों खूब बिकी थी। पर बाद में उसका कोई संस्करण मुझे देखने को नहीं मिला और अब वह दुर्लभ पुस्तकों में एक है।

छः फुट से भी एक-दो इंच और अधिक ऊँची लम्बी काया। सहज, उत्सुक आँखें। प्रेम-भरा व्यवहार! ये कुछ उनके बाह्य व्यक्तित्व की विशेषताएँ थीं। पर उनका गुणात्मक बहुपठित और बहुश्रुत था। वह अधीती विद्वान थे, निरहंकार! विद्वत्ता को सरलता से तरला देने वाले। अब मुझे लगता है, मानो साहित्य-कान्तार के ऋषि थे वह! प्रतिभा-सम्पन्न, स्मृति-सजग तो वह थे ही। वह अपने ज्ञानार्जन के विस्तृत तन्तुजाल की ग्रंथि से साहित्य के लेखन-चिन्तन बिन्दुओं को यथास्थल और यथायोग्य रूप में तुलनात्मक दृष्टि से शोधते-जोड़ते रहते थे। इसी क्रम में उन्होंने 'अज्ञेय' की दो छोटी कविताओं-'साँप' और जीवन-मर्म' पर दो अंग्रेजी कविताओं की गहरी प्रभाव-छाया का दृष्टान्त-सहित उल्लेख किया था।

मुझे 'पन्त और पल्लव' की याद आ गयी थी। जहाँ तक मैं उन्हें समझ सका था, वह अपने-आप में साहित्य का जीवन्त ज्ञानकोश थे और अपने-आप में एक साहित्य संस्था के बराबर थे। नेहरू जी के जमाने में वह 'साहित्य अकादमी' के सचिव बने और एक से अधिक 'टर्म' तक सचिव पद पर बने रहे।

मुझे अपनी एम.ए. (हिन्दी) परीक्षा देने के क्रम में उनके लेखन से कविता, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना - हर कहीं रू-ब-रू होना पड़ा। प्रभाकर माचवे सर्जक, चिन्तक और आलोचक- तीनों ही थे। वह पत्रकार भी थे। इस संदर्भ में वह पटना में भी रहे। वह गोष्ठी-प्रिय थे। उनके पास साहित्यिक चर्चाओं और साहित्य-क्षेत्र में घटने वाली घटनाओं का खजाना था। चाहते तो, वे अपने समय के साहित्यकारों का दस्तावेज प्रस्तुत कर सकते थे। उन्होंने अपना कोई शिविर नहीं बनाया और न ही अपना 'आत्मप्रचार' किया। वह न तो स्वयं 'कन्फ्यूज्ड थे और न किसी को उन्होंने कन्फ्यूज्ड किया। उन्हें साहित्यकारों की मौलिकता-अपरागतता, सर्जनात्मकता-अनुकरणपरकता, नवीनता और पिष्ट-पेषणता की अच्छी पहचान-परख थी। पर हिन्दी के मार्क्सवादी-जनवादी आलोचकों ने उन्हें हिन्दी की किसी भी विधा में प्रतिष्ठित नहीं होने दिया। हिन्दी कथा-साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक चन्द्रकान्त बांदिवडेकर को यह दर्द-भरी शिकायत रही कि हिन्दी के साहित्यकारों ने उनके महत्त्वपूर्ण लेखन की उपेक्षा की, उसका कोई नोटिस नहीं लिया। प्रभाकर माचवे ऐसा कुछ अन्त में अनुभव करते थे या नहीं मैं नहीं जानता। पर मैं यह मानता हूँ कि इन दोनों की ही उपेक्षा हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने अवश्य की। मराठी मुक्तिबोध भी थे। पर उन्हें मध्यप्रदेश की उनकी लॉबी और हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी में मार्क्सवादी-जनवादी होने के नाते उनके लेखन को प्रशंसित करते हुए हिन्दी में सुप्रतिष्ठित किया।

1987 से 1989 तक मैं यू.जी.सी. की ओर से गठित की गयी अखिल भारतीय स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम समिति हिन्दी का एक सदस्य था। उसकी एक बैठक विश्वभारती (विश्वविद्यालय), शान्तिनिकेतन में आयोजित हुई थी। 1988 का वर्ष था। उस बैठक में प्रभाकर माचवे को पाठ्यक्रम-समिति के संयोजक-निदेशक प्रो. शिवप्रसाद सिंह वाराणसी ने विशेष मनोनीत सदस्य के रूप में उनकी सक्रिय सहभागिता के लिए आमंत्रित किया था। यहीं हम दोनों एक-दूसरे से आमने-सामने परिचित हुए थे। दो-तीन दिनों के उस प्रवास में उनके कमरे में चार-पाँच बार गया। कोई दो-तीन बार साहित्य-चर्चाएँ कर सका। शेष बार उनके कमरे में कन्याओं, महिलाओं की उपस्थिति देखकर उनसे क्षमा-याचना करते हुए अपने कमरे में लौट आया। यहाँ मैंने उनमें एक शालीन आभिजात्य के दर्शन किये। पर मैंने यह पाया कि वहाँ जिस काम के लिए वह पधारे थे, उसमें अपनी सक्रिय सहभागिता वह नहीं कर पाये और जो कुछ परामर्श-बिन्दु वह सुझा सकते थे, वे अपने पहले दिन की उपस्थिति के अतिरिक्त नहीं कर सके। कुछ तो अनावश्यक साक्षात्कर्त्रियों ने उन्हें घेरा और रोका और कुछ संभवत: उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी होने के नाते उनकी यह मान्यता रही हो कि ऐसे आयोजनों में वह शोभाधर्मी-मात्र हैं, काम तो वहाँ पधारे विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसरों को ही करना है। तीसरे दिन सवेरे उन्हें कलकत्ता जाना था। दस बजे की उनकी उड़ान थी। पर सवेरे चाय पीकर जाते समय उन्होंने अपने पार्श्ववर्ती मेरे कमरे का द्वार खटखटाया। मैं तत्काल बाहर निकला और उनका मनोमुग्धकर प्रीतिभाव ग्रहण करते हुए उन्हें विदा किया। सीढ़ियों से नीचे उतर कर उन्हें औरों के साथ मैं भी कार तक छोड़ आया।

1989 के फरवरी महीने के अंतिम सप्ताह में मैंने गुरु नानक देव विश्वविद्यालय में पाँच दिनों की एक लम्बी ज्ञान-चर्चा का आयोजन किया था। यह संगोष्ठी 'नेहरू-आकल्पित भारत और हिन्दी साहित्य' पर थी और यू.जी.सी. की ओर से संभरित थी। यह हमारे हिन्दी विभाग की ओर से आयोजित थी। मैं उन दिनों विभाग का प्रोफसर-अध्यक्ष था। इसके उद्घाटन के लिए मैंने साहित्यकार नरेश मेहता को आमंत्रित किया था और समापन-सत्र के अध्यक्ष के रूप में निष्कर्षात्मक सम्बोधन करने के लिए प्रभाकर माचवे को आमंत्रित किया था। माचवे नेहरू के निकट थे और हिन्दी साहित्य के सर्जक-स्रष्टा तो थे ही। मेरी दृष्टि में प्रतिपाद्य विषय पर मूल्यांकन-निष्कर्षांकन करने के लिए वह सर्वथा योग्य व्यक्ति थे। पर एक आशंका तो थी ही कि क्या वह नेहरू की त्रुटियों-विसंगतियों का उद्घाटन कर पाएँगे? हमारा पत्रचार दो महीनों पहले से चल रहा था। उन्होंने प्रसन्न मन से मेरा यह आग्रह स्वीकार कर लिया था। उन दिनों वह इन्दौर में रह रहे थे और वहाँ से निकलने वाले दैनिक पत्र 'नई दुनिया' का सम्पादन कर रहे थे।

फरवरी का महीना अमृतसर के लिए ठंड का महीना होता है। इसलिए सभी सम्मानीय अतिथियों के लिए विश्वविद्यालय के अतिथि-भवन में ठहराव एवं भोजनादि की सभी प्रकार से सुखद व्यवस्था की-करायी जा चुकी थी। तभी अकस्मात् एक सप्ताह पहले प्रभाकर माचवे का एक पत्र प्राप्त हुआ। इसमें उन्होंने अमृतसर आने और समापन सत्र की अध्यक्षता करने का दायित्व सम्पन्न करने में अपनी विवशता-असमर्थता निवेदित की थी। साथ ही यह लिखा था कि इसके लिए मैं किसी अन्य विद्वान को आमंत्रित कर यह दायित्व सम्पन्न करवा लूँ। उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि मेरी पुत्र-वधू मुझे अमृतसर जाने से पहले से ही रोक रही थी पर अब तो उन्होंने मुझे सर्वथा प्रतिबंधित कर दिया है। पुत्र का भी यही मत है। उनकी दृष्टि में 'अमृतसर में गोली खाने के लिए भला कौन जाएगा?' मुझे उस समय याद आया कि 1985 में कभी नामवर सिंह ने भी मुझसे कहा था- ''आपके यहाँ भला कौन जाएगा? वहाँ तो दाने-दाने पर लिखा है गोली खाने वाले का नाम।'' मैंने विभाग से नई दुनिया कार्यालय और माचवे जी के घर पर- दोनों ही जगह फोन-सम्पर्क करने की चेष्टा की। फोन तो लगा, पर कट-कट गया और माचवे जी से सम्पर्क संभव नहीं हो पाया। दूसरे दिन मैंने विभाग की बैठक बुलायी और माचवे जी के संगोष्ठी में नहीं आने का पत्र सभी सदस्यों को पढ़कर सुना दिया। साथ ही यह निर्णय किया कि अब संगोष्ठी में एक दिन पूर्व आकर अपने व्याख्यान देने वाले आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी से समापन समारोह का दायित्व भी सँभालने तथा मूल्यांकनपरक निष्कर्षात्मक सम्बोधन करने के लिए आग्रह किया जाए। इस तरह प्रभाकर माचवे के द्वारा पैदा किये गये संकट से मुक्ति पायी जा सकी।

मैं माचवे जी की विवशता को समझ गया था। अवकाश-प्राप्त जीवन में पुत्र और पुत्रवधू का परामर्श आदेश बन जाता है, यह भी समझ रहा था पर। उस समय अमृतसर में भवानी प्रसाद मिश्र की 'भय' शीर्षक उस लघु कविता जैसी स्थिति भी नहीं थी कि कुछ लोग यहाँ पहले रहते थे। पर अब वे यहाँ नहीं हैं। अमृतसर की अच्छी-खासी आबादी यहाँ जीवन-यापन कर रही थी। ऐसे में मैंने उन्हें तत्काल पत्रोत्तर दिया कि जातक की कुंडली में दूसरा भाव, धन का भाव, शरीर का भाव या घर कहलाता है। हमारा शरीर ही हमारा पहला धन है और इसकी रक्षा-सुरक्षा हमारा परम कर्तव्य है। इस धन का मिट जाना ही निधन या मृत्यु है। इससे बचाव के लिए सोचना और करना हमारा धर्म है। आप बहुपठित हैं,

ज्ञानी हैं। जीवन और मृत्यु जैसे शाश्वत विषय पर मैं आपसे कोई व्यावहारिक या दार्शनिक संवाद करना नहीं चाहता। इतना ही लिख सकता हूँ कि आप आरंभ में ही इस द्वन्द्व में रहे। मेरे आमंत्रण को आप आरंभ में ही अस्वीकार कर सकते थे या यदि इसे स्वीकार कर लिया था, तो परमात्मा का स्मरण कर आ जाते। अमृतसर तभी जैसा ही है। हाँ, कहीं नहीं जाने से मृत्यु टलती नहीं, वह तो जहाँ और जब निश्चित होती है, वहीं हमें कृतार्थ कर जाती है। परमात्मा आप जैसे चिन्तक और सुपठित, बहुश्रुत ज्ञानी व्यक्ति को निर्भीकता दें और आपको शतायुष्य प्रदान करें। यहाँ समापन-समारोह के लिए विधिवत व्यवस्था कर ली गयी है। हम सबको अमृतसर में आपका आतिथ्य नहीं कर पाने का खेद रहेगा। मेरे इस पत्र का भला क्या उत्तर आता? उसे न आना था, न आया।

वर्ष 1985 में 13 या 14 जुलाई को मैंने पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफ़ेसर-अध्यक्ष पद का कार्यभार सँभाला था। वहाँ प्रो. आनन्द प्रकाश दीक्षित अवकाश ग्रहण कर चुके थे। डॉ. दिवाकर विभाग में रीडर थे। मैं फरवरी, 85 में ही प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गया था, पर कार्य-भार मैंने जुलाई में सँभाला। इस बीच अवरोधों-विरोधों से गुजरते हुए डॉ. दिवाकर अन्ततः जून, 85 में प्रोफ़ेसर बन गये और अध्यक्ष का कार्यभार सँभाल लिया। पर अचानक हृदयगति रुकने से उनका देहावसान हो गया। माचवे जी ने मराठी होने के नाते उनकी सहायता की थी। दिवाकर जी को प्रो. आनन्द प्रकाश दीक्षित का बहुत विरोध सहना पड़ा था। अतः माचवे जी की उनके प्रति अनुकूलता उचित और स्वाभाविक थी- 'स्ववर्गे परमाप्रीतिः'।

वहाँ पदभार सँभालने के बाद मैंने कुछ शोधार्थियों की शोध-प्रस्तावना और प्रस्तावित विषयों की रूपरेखा देखी थी, जो माचवे जी को विचारार्थ, संशोधनार्थ भेजी गयी थी। मैंने उनके द्वारा दिये गये सुझावों को पढ़ा था। ये सभी सुझाव उनकी गहरी शोध-दृष्टि के द्योतक थे। उनके इस शोध-विवेक ने मुझे प्रभावित किया था।

प्रभाकर माचवे को अच्छी स्मृति मिली थी। वह साहित्य के विश्वकोश तो थे ही उनके साहचर्य में जिज्ञासु बन कर रहने या नियमित रूप से उनसे मिलने-जुलने वाला व्यक्ति न केवल उनसे साहित्य का गहरा संस्कार प्राप्त कर सकता था, अपितु साहित्य का गहन तथा विशद ज्ञान-वैविध्य का अधिकारी भी बन सकता था। संभवतः कुछ लोग बने भी हों। साहित्य की मौखिक-वाचिक परम्परा के वे जीवन्त प्रतिमान थे। आज यदि मैं हिन्दी में उनका समतुल्य खोजूँ, तो मुझे कहीं नहीं मिल पाएगा।

सम्पर्क : *अमृतसर (पंजाब)*
मो. 9878647468

नरेश कुमार 'उदास'

जीवन-मृत्यु

इंसान का जीवन
क्षण भंगुर है
लेकिन वह चाहता है
कि उसके आस-पास की सुरक्षा
तामझाम के साथ
हमेशा चाक चौबंद रहे।
वह जीवन भर
मन पसंद की
तमाम चीजों को
इकट्ठा करता रहता है
उन्हें सहेजता
सँभालता रहता है।
मायावी वस्तुएँ
सहेजता
वह लोभी होता
मानवीयता के निम्नतर स्तर तक
जा पहुँचता है।

वह जीवन में
इस बात को
नहीं स्वीकारता
कि, वह फूलों का प्रतिरूप बने
उन सा महके

वह चालाक है
जानता है
कि फूल चंद मिनटों का
मेहमान होता है
क्षणिक होती है उसकी महक
वह फूलों का झरना
जानता है
जबकि झर जाना
तो इंसान ने भी
एक दिन।

लेकिन फिर भी...
वह फूल नहीं
पाषाण बन बैठता है
इस मायावी जग को
त्यागने के बारे में
एक पल भी
नहीं विचारता
अपनी मृत्यु का विचार
जीवन भर
उसके मन में नहीं आता
ऐसा विचार
कि, वह भी एक दिन
राख का ढेर
बन जाएगा।

मैं ऐसा करूँगा एक दिन

सोचता हूँ
किसी दिन
अवश्य मैं ऐसा करूँगा
भूलकर दुनियादारी सारी।
अपने बगीचे में बैठकर

तितलियों को उड़ते
फूलों पर बैठते
जी भर निहारूँगा।
खिलते फूलों को
छू लूँगा बार-बार
उन्हें सहलाऊँगा
और भँवरों की गुनगुनाहट
को सुनूँगा।
क्षितिज़ छूते
उड़ते पक्षियों
की उड़ानों को
आँखों में भर लूँगा।
पहाड़ों पर गिरी
ताजी बर्फ को
निहारूँगा?
फिर साँझ ढलते
सूर्य के गोले को
डूबता देखूँगा।
विशालकाय पेड़ों के
बीचों-बीच
ढलते हुए।
और निकल पड़ूँगा
पगडन्डी पर
दूर कहीं
गुनगुनाता कोई
दर्दीला पुराना गीत।
मैं एक दिन
ऐसा अवश्य करूँगा।
भूलकर
यह सारी दुनियादारी।

अपने दुखों को भूलने की कोशिश में

अपने दुख को
भूलने की कोशिश में
मैं खुशियों के
अवसर तलाशता हूँ
इस गम की घड़ी में भी
अक्सर मुस्कुराता हूँ।
जानता हूँ।
दुख तोड़ता-सालता है
लीलने लगता है
भीतर ही भीतर।
किस तरह
एक हादसे ने
लूट ली दुनिया मेरी
फिर भी
मैं हौसला नहीं हारता हूँ।
भला यह कौन जानता है
कब किस पल
क्या घट जाए।
और आदमी
बेजान सा
असहाय बना
कुछ भी न कर पाए।
बस हाथ मलता ही
रह जाता है।
तब सीने के जख्म
घाव बनकर
नासूर बन जाते हैं
आदमी को तड़पाते-रुलाते हैं
असहनीय पीड़ा पहुँचाते हैं।
लेकिन वक्त रफ्ता-रफ्ता
रखता है

नासूर पर मरहम
और देता है
जीने का हौसला भी।
मैं भी
खुशियों के बहाने
ढूँढ़ता हूँ।
इस तरह
अपने गम को भुलाता हूँ।
जब जीवन बन जाए
दुखों का घर
तो याद आते हैं
सहसा गौतम बुद्ध।
मैं स्वयं को
बार-बार सँभालता हूँ।
सहेजता हूँ
टूटने से
बिखरने से
दूसरों से बतियाता हूँ।
आस-पड़ोस के लोगों की
पीड़ा बाँटता हूँ।
और अपना सारा गम
भूलने लगता हूँ।

सम्पर्क : *चमौर, जिला-जम्मू*
मो. 9682566419

प्रो. फूलचंद मानव

माँ के मुहावरे

माँ के मुहावरे जब-जब याद आते हैं, बहुत भाते हैं,
हाँ, कभी-कभी कतराते हैं शब्दों के अर्थ विस्तार या फिर लुभाते हैं।
नदी सी बहती माँ, किसी को कुछ भी न कहती माँ
रात प्रभात का सारा सैलाब झेलती है, ठेलती है
जीवनधारा के साथ घर भर के सुखद प्रवाह को

अंधे को दिया नून अंधा कहे मेरी आँख फोड़ दी जैसे ही दोहराता हूँ
माँ को साकार सामने पाता हूँ, आज अंधा नहीं वह नून भी नहीं
पर फूटी आँख का ख्याल जरूर आता है। एक नया तर्क खड़ा हो जाता है।

क्योंकि, माँ, सबसे बड़ा मुहावरा तो वह आप हैं।
मम्मी नहीं, अम्मी नहीं
वह जहाँ भी हैं सबके साथ हैं
माँ घर के मदरसे से देश के चुरस्ते तक, पार्टी पॉलिटिक्स में पूरा माहौल हैं
शब्दों और अर्थों का शुभ श्रीगणेश हैं।

बनी ठनी न होकर भी माँ दुनिया की सबसे खूबसूरत औरत-सी सामने खड़ी हैं
दुनिया या देश में सचमुच बहुत बड़ी हैं।
रसोई की माँ से, पूजाघर की माँ तक, माता एक लम्बी प्रार्थना लगती हैं
अम्मा सोयी भी सबके लिए जगती हैं।

सीना पिरोना, बर्तन भांडे धोना, माँ अकेली ही कर जाती हैं
टी.वी. देखती माँ, रसोई-नेपथ्य की सारी बातें समझ जाती हैं

घर में पिता की लम्बी प्रतीक्षा तक माँ बच्चों को लुभाती समझाती हैं
चित्रहार-सी कहानियाँ सुनाकर खुद रंगोली हो जाती हैं।

भाषा और संस्कृति के सारे मुहावरे माँ ही तो दिखाती हैं।
भाए या बहकाए हुए माँ के सारे मुहावरे
आज भी एक जीवन का नया मोर्चा दिखाते हैं।
माँ के महकते मीठे प्रतीक उसके लिबास की तरह मंगलमय हो जाते हैं।

आप क्यों विचलित हैं श्रीमान

आपकी किसी भी शॉल का रंग सलेटी नहीं है
आपके यहाँ तो कोई बेटी नहीं है!

फिर आप क्यों विचलित हैं श्रीमान!
छोटी तो बड़े, छोटे-छोटे कौतुक दिखाती है
और बड़ी कभी-कभार बड़ी शरारतों से भी खेल जाती है

छुटपन या बड़प्पन का सबूत देती दोनों
युगबोध पढ़ती-पढ़ाती आधुनिकता का अंत दिखाने लगती हैं
मिलाने लगती हैं समाज की ताल से ताल

आप धनवान हों या कंगाल, छोटी-बड़ी बेटियों के माँ बाप हैं
बहुत जल्दी आयेगा आपको ख्याल
लोगों से, लिबास से, आम या खास से
बचकर चलने के आपके सारे फार्मूले धरे रह जाते हैं

मान मर्यादा, मूल्य या कीमतों के कनस्तर परे रह जाते हैं
क्योंकि इस हवा में लड़कियाँ सबकुछ घोलती हैं
पढ़ा हुआ, पढ़ने वाला भी, हर सबक बोलती हैं

शादी से संन्यास तक, फैशन से निंदास तक, आपने अभी पढ़ा ही क्या है?
टी.वी. सीरियलों का शोख रंग आप पर अभी चढ़ा ही कहाँ है?
बोलने बतियाने में एक रंग आता है, एक रंग जाता है

बाप और माँ दोनों का अधिकार धरा रह जाता है।

जब बेटियाँ मेहँदी की तरह घुलती हैं
पानी के गये नल की तरह एकाएक खुलती हैं
और आपके जीवन की बुनावट ही बदल जाती है।

आती हुई लड़कियाँ लक्ष्मी, देवी सरस्वती नाम से
रजिस्टर्ड होती हैं, जाती हैं तो अंतरराष्ट्रीय फिजा में
कुछ यों घुल जाती हैं कि अपनी और आपकी
सारी संस्कृति ताक पर टिकाकर–

तेज दुपहिया चुपहिया–सी छूमंतर हो जाती हैं, त्रास देती हुई।

यहाँ कायदा ही कायदे तोड़ता है

एक जैसे सवाल
और वैसे ही उत्तरों से
उकता जाता है मन

बार–बार आवृत्ति, और पुनरावृत्ति, कितना तोड़ती है
जोड़ती है विफलता से

आराम और काम का मोह, कचरे–सा किरकिरा व्यवहार
मन मार कर सहा कारोबार, एक लाइन पर छोड़ता है
यहाँ कायदा ही तो कायदे तोड़ता है

सवाल–दर–सवाल हम उलझते हैं, जवाब दर जवाब पहचानते मर्म
परम्परा में खो जाते हैं, मिट्टी हो जाते हैं।

मिट्टी और महोत्सव टिकते दिखाई देते हैं जमीन पर
पीढ़ियों तक, पर उठने के अंदाज में जो भी मिलता है
सीढ़ी पर
और नीचे ला पटकता है

प्रायश्चित-सा हो जाता जीवन
और समय खुलता जाता है

कायदा बाकायदा सवार रहता है
बीमार रहता है प्रश्न और उत्तर
अनगिनत चेहरों में अखरता
चरित्तर

साँझ का शिकार पूरा दिन
गिन-गिन कर रात प्रश्न दोहराती है
उत्तर को फिर से प्रश्न में बदल जाती है, क्यों बदल जाती है?

सम्पर्क : *जीरकपुर (पंजाब)*
मो. 9316001549

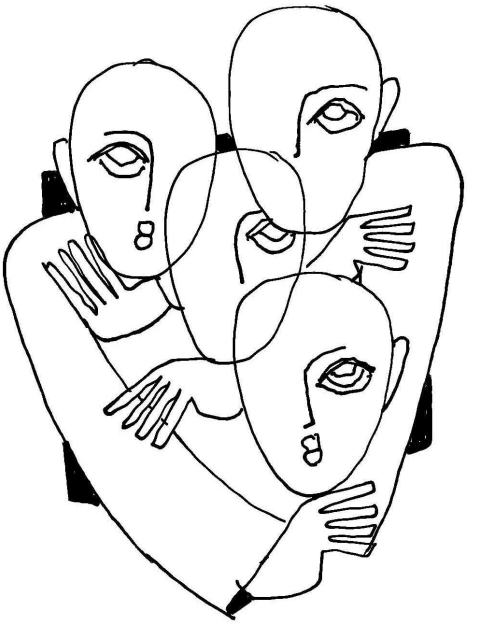

कुँवर प्रदीप निगम

ग़ज़ल

आँधियाँ चलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।
फिज़ाँ बदलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

ये जो सन्नाटे सुदूर तक खिंचे-खिंचे लगते।
हवा मचलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

जिनको तू तिनका समझता है अरे ओ पागल।
व्योम वो चढ़ने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

काले नागों के घेरे में विषैली बीछी।
दाँव है चलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

ये जो कहते हैं कि हम दोस्त हैं गंगा की कसम।
आए हैं छलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

हमारे बाग़ में जो आग लगाकर भागे,
बागवाँ बनने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

नाव डूबे या रहे वह तो खड़े हैं तट पर।
नदी मचलने को प्रदीप तुम सँभल जाओ।।

बासंती दोहे

पुष्पबाण मत मार रे, ढीठ बसंत दबंग।
रूपसि के बिंध जायेंगे, कोमल सारे अंग।।

पीत हो रही साँवरी, दूर देश में कंत।
कागा जा बतला उन्हें, बौरा गया बसंत।।

ये बसंत के मदभरे, फागुन से अनुबन्ध।
गुलमोहर से चाहता, रंग भरे सम्बन्ध।।

स्नेह तरणि हैं डूबती, द्वेष-सिन्धु के बीच।
मन-मल्लाह सचेत हो, बैठ न आँखें मीच।।

नाविक तेरे हाथ में, कुश्ती औ पतवार।
तू चाहे इस पार कर, तू चाहे उस पार।।

मन पतंग माया शिखा, दीपक यह संसार।
प्राणी जैसे वर्तिका, स्वारथ स्नेह अपार।।

सम्पर्क : *कानपुर (उ.प्र.)*
दूरभाष : 2263863

ओम उपाध्याय

वसंत हो या फागुन

अब ना
मेघ, प्रकृति
ना कोयल, कबूतर
और ना ही
मौसम के हरकारे
घर द्वारे,
लाते संदेश
ऋतु-पर्वों के
आने-जाने के
कितना परिवर्तित
हो गया है
परिवेश
पर्व आते हैं
चले जाते हैं
ऋतुएँ आती हैं
चली जाती हैं
पन्ने पलट जाते हैं
पंचांगों और कैलेन्डरों में
सिमट गए
ऋतु पर्वों के
साल दर साल
गुजर जाते हैं
यादें

धुँधला जाती हैं
उम्र छोटी हो जाती है
सब कुछ
आया-गया हो जाता है
वसंत हो
या सावन
चैत हो
या फागुन

वसंतोत्सव

वसंत के स्वागत में, एक जुट हुआ संसार
लुटा रही है प्रकृति भी अपना सब घर बार
हर ''शै'' बहुत खुश है मिल रहे हैं संकेत
अब नहीं उठ रहे कहीं से, बवंडरों के प्रेत
मौसम भी इस ऋतु पर करता है नाज
वास्ते वसंत कहलाता ऋतुओं का सरताज
हर किसी को भाता है इसका प्यारा रूप
इसके प्रशस्ति गान में भी लेखनी चलती खूब
इठला रही पीली सरसों खेत-खेत में आज
इक मीठी धुन घुल रही फिजा में बिनसाज
वनों में वसंत की छटा मिलेगी सब दूर
सच्चे अर्थों में वनवासी ही लुत्फ लेते भरपूर

सम्पर्क : *इंदौर (म.प्र.)*
मो. 9407515174

सोनल प्रधान

आज क्यों न तुम चलो

कुछ बुझाऊँ दर्प मैं
और लौ से तुम जलो
यों शशि की सैर पर
आज क्यों न तुम चलो

तुम चलो दिशा बदल
जहाँ कहीं भी मैं दिखूँ
इस क्षितिज से कूद कर
शनैः शनैः मैं लिखूँ

जिसे जग ने जाग कर
कह दिया था तुम ढलो
वो डूबता सूरज कहे
आज क्यों न तुम चलो

पवन कुमार अब ज्यों
पार कर आकाश द्वार
जिस बिजकोट को धरें
वो आज क्यों न तुम फलो

जिसे जग ने जाग कर
कह दिया था तुम ढलो
वो डूबता सूरज कहे
आज क्यों न तुम चलो।

केवल औरत होना

एक अध: पतित समाज
औरतों को नहीं देख पाता
कभी-कभार उनका औरत होना नहीं देख पाता
मगर उनका 'केवल औरत होना'
सदा से देखता आया है।

और कभी औरतें
कुछ चींटियों की तरह
चलती बिखरती दिखायी देती हैं
जिसमें चींटी एक-एक कर दरारों में
समाती हुई भली दिखती हैं
मगर जब मिठाई की ओर बढ़ती हैं
हम खा लेते हैं मिठाई गपागप
और फिर उन्हें चलता हुआ देखने मुड़ते हैं

औरत की आत्मा
उसके बच्चों के भीतर होती है
बच्चे जब माँ से बड़ा होना जानें
औरत की आत्मा
एक दिन में बूढ़ी हो सकती है।

एक अच्छी कविता

जब सच मरता है
एक अच्छी कविता
गहने उतारकर रख देती है
प्रशंसा की पोटली में
और कभी नहीं खोलती।

जब झूठ पूरी ताकत से
कूच करता है

एक अच्छी कविता
निहत्थी होकर लड़ती है
और अगर गिरती भी है
तो आत्मा की परिधि के भीतर ही।

एक अच्छी कविता
सत्यवत संपूर्णता के कारण
शिकार हो सकती है
हमारी मानसिक अपूर्णता की।

एक अच्छी कविता
मजदूरों की मजदूरी करती है
और शासन पर शासन

लारीवाला

वह रोशनी से अँधेरे तक
तपकर
पिघलकर
पुनः
जमकर
लारी धकेलता है
लारी हल्की जान पड़ती है
कंधे पर लदी जिम्मेदारियों से,
तिस पर भी
पहिये जिम्मेदारियों पर न लगाकर
लारी पर जड़ दिये जाते हैं।

सम्पर्क : *महासमुंद (छ.ग.)*
मो. 6263116499

अंकिता प्रधान

एक झील

एक झील है
जिसने बहुत कुछ देखा है
जिससे न कोई आँसू छिपाता है
न ही प्रेम,

इसने सब कुछ देखा है,
गुब्बारे बेचते बच्चे
गुब्बारे के लिए रोते बच्चे
गुब्बारे फोड़ते बच्चे भी
इसने देखे खाली पेट खाना बेचते लोग
भर पेट खाना फेंकते लोग
उसने मजबूर बचपन देखा है
बेबस वयस्कता भी,

उसने देखा है प्रेमी का पहला स्पर्श
लाल कुर्सी के उस छोर बैठी रूठी प्रेमिका
उसने असंख्य झगड़े देखे हैं
और देखा है अपार प्रेम
उस झील ने गालों की लाली भी देखी है
और वियोग के अश्रु भी

मैं कभी-कभी जल उठती हूँ
उस झील से
जिसने देखी दो सबसे खूबसूरत चीजें
बुजुर्गियत का रोमांस
दोस्तों की टोली का रोमांच!

सम्पर्क : *महासमुंद (छ.ग.)*
मो. 6265664873

दिनेश भारद्वाज

शंकाओं का संहार करें!

नित्य भ्रांतियाँ धरना देकर पग-पग पर घेराव करें।
समय आ गया है निर्णायक शंकाओं का संहार करें।।

खुलकर खेल नहीं पाये तो लज्जित होगा क्षितिज नया।
बल पर नहीं याचनाओं के रण में विजयी बने दया।।
वह असीम उर है जिसने सीमा के छोर छुए सारे-
अभिलाषा के अंकुर को क्षति कारित करती गर्म हवा।।

स्फूर्त विहंग के पंखों पर कुण्ठित स्पर्धाएँ घात करें।
समय आ गया निर्णायक कटु दंशक का विषभार हरें।।

यों तो हमने निज गौरव का जग में शंख बजाया है।
लेकिन अपने आँगन के काँटों पर पार न पाया है।।
खेल रही कोनों में छिपकर नागिन चिर विषव्याली है-
जिसकी ज्वाला को सागर जल भी बुझा नहीं पाया है।।

तृष्ण के घर में चिन्ताएँ हर रात जागरण करें।
समय आ गया भोगवाद की जड़ पर तीव्र प्रहार करें।।

इक्कीसवीं सदी मंथन में तो देवत्व अकेला है।
आसुरी मतों में स्वार्थों का मचता नया झमेला है।।
किन्तु हमें तो अमृत पिलाना अभी विश्व मानवता को-
विष धारण को शिवकण्ठी तापस इसीलिये झेला है।।

दन्तहीन विषधर फुंकारें जगती को भयभीत करें।
समय आ गया अब इनकी सारी नस्लों को क्षार करें।।

सम्पर्क : *जौरा, जिला-मुरैना (म.प्र.)*
मो. 9907033282

प्रो. महेश दुबे

अनुवाद

हम सबसे पहले ही यह स्पष्ट करेंगे
ये कुछ बातें हैं, जो हम बिल्कुल नहीं करेंगे।
क्या हुआ अगर जो लिखा आपने
पहले भी किसी का लिखा हुआ है।
इतने सारे संदर्भों में इसे
ढूँढ़ना सम्भव कहाँ हुआ है।
चिन्तित क्यों होते हैं यदि सामग्री है स्तरहीन
या ली है कहीं से मार
हो सकता है इस पर ही आप, पा लें कोई पुरस्कार
लेकिन इस पत्रिका में नहीं।
कई बार अच्छे लेखक भी कर जाते हैं भूल
सही हमेशा होते क्या सारे लेखक, ये शंका है निर्मूल
इन छोटी-छोटी बातों पर
क्यों फिकरमन्द होते हैं जनाब
बस सम्पादक को गाँठे रखने का
देखा करिये ख्वाब
लेकिन इस पत्रिका में नहीं
शब्दों के हिज्जे गलत लिखे हों
तो चिन्ता मत करिये श्रीमान
नुक्ता या हलन्त लगाने का अब
रखता कौन है ध्यान
शब्दानुशासन टूटा हो या पद-बन्ध हो गया हो भ्रष्ट
विन्यास वाक्य का बिगड़ा हो या व्याकरण हो गया हो नष्ट
रहने दें ऐसा ही, इन्हें ठीक करने का मत करिये कुछ कष्ट
पर इस पत्रिका में नहीं।

सम्पर्क : *इन्दौर (म.प्र.)*
मो. 9827459970

दिनेश पाठक 'श्रेयांश'

कविता के लिये कविता

तुलसी सूर कबीरा मीरा, गीत प्यार के सब गायेंगे।
इंकलाब को लिखते पढ़ते, कवि शायर सब मर जायेंगे।
बात काट दो राह रोक दो, सौ दीवार खड़ी कर दो पर।
कविता का परचम हर युग में, लहराया है लहरायेंगे।।

दिल की दिल्ली के राजा हम, इस पर राज हमारा ही है।
कल था कल हो या ना हो पर निश्चित आज हमारा ही है।
कलम हाथ में थमा भगवति, दिल में जो रहती है अपने।
उसका हाथ रखा है सिर पर, तो हर ताज हमारा ही है।।

घोर अँधेरे में उम्मीदी किरण नई आशा बोलेगी।
रत्ती को रत्ती तोला है माशा तो माशा बोलेगी।
सच्चे को सच्चा अच्छा है खासा तो खासा बोलेगी।
कविता जब भी मुँह खोलेगी जनता की भाषा बोलेगी।

मेरी कलम नहीं बख्शेगी, हिन्दू मुस्लिम सरदारों को।
मेरी कलम नहीं बख्शेगी, मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारों को।
मेरी कलम नहीं बख्शेगी सगे भाई दुश्मन यारों को।
मेरी कलम कलम कर देगी, देश द्रोहियों गद्दारों को।

राष्ट्र जागरण की खातिर मैं, स्वयं सदा जागा करता हूँ।
भगा सकूँ दु:ख दर्द देश का इसीलिये भागा करता हूँ।
शब्दों से खिलवाड़ नहीं यलगार बिला नागा करता हूँ।
फूल नहीं मैं तो शब्दों के बम गोले दागा करता हूँ।

मैंने शब्दों को पाला है, हर पल अपना स्वेद पिलाकर।
मैंने भावों को ढाला है, अपना हर सुख चैन खिलाकर।
मेरी कविता रख सकती है, ताज तख्त की नींव हिलाकर।
क्योंकि मैं कविता लिखता हूँ, अब स्याही में खून मिलाकर।

इसी कलम की ताकत से है तुलसी या रसखान जहाँ में।
इसी कलम की ताकत से है गीता और कुरान जहाँ में।
इसी कलम से लिया दिया है जन-जन ने धन ज्ञान जहाँ में।
इसी कलम से खूब मिला है, हम कवियों को मान जहाँ में।।

इसी कलम से अब मैं अपने अंतर्मन के द्वंद्व लिखूँगा।
इसी कलम से कविता मुक्तक गीत ग़ज़ल नव छंद लिखूँगा।
इसी कलम से धूल शूल या फूलों के मकरंद लिखूँगा।
वीरों की हुंकार लिखूँगा, बारूदों की गंध लिखूँगा।।

मैं वाणी का वरद पूत हूँ मातृभूमि का मैं चारण हूँ।
शब्ददूत हूँ शब्द मंत्र मैं, मृत्युजय हूँ मैं मारण हूँ।
वर्तमान मैं भूत और भवि, कवि रवि की छवि का धारण हूँ।
मुझसे कविता कभी नहीं है, पर मैं कविता के कारण हूँ।।

ये जो मेरे शब्द-शब्द में, क्रांति चेतना घोल रहा है।
ये जो मेरे हाव-भाव में आक्रोशित बन डोल रहा है।
ये मैं नहीं नहीं हूँ मैं पर ये नायक अनमोल रहा है।
ये मुझमें तुममें हम सबके अंदर का कवि बोल रहा है।।

चाहे मेरे बाद में तुम हर महफिल में अफसाने रखना।
मेरे लिखे पढ़े गाये हर गीत ग़ज़ल हर गाने रखना।
बेशक मेरी इज्जत शोहरत दौलत के हर माने रखना।
पर मरने पर सिर्फ चिता में कलम मेरे सिरहाने रखना।।

सम्पर्क : *इंदौर (म.प्र.)*
मो. 8319476891

अनिरुद्ध जोशी

पानी बनना चाहता हूँ

पानी बनना चाहता हूँ,
हाँ नदी का पानी।
कितने ही पत्थरों से टकराकर,
तोड़ना चाहता हूँ उनका दंभ

डुबाना चाहता हूँ,
अपने में उन तैराकों को जो
मुझे चुनौती देते हैं और
हँसते हैं उन डूबने वालों पर
जिन्हें जीवन की नदी में
तैरना नहीं याद था

साँस लेना चाहता हूँ मैं
मछलियों के पेट से और
समा जाना चाहता हूँ मैं
धरती के गर्भ में
जहाँ जन्म लेता है,
मेरे जैसा ही कोई,
न जाने कैसा

पक्षियों के कंठ से उतरकर,
देखना चाहता हूँ कि
कहाँ हृदय धड़कता है और

मैं कब बन जाता हूँ
उनके प्यार की ताकत

छूना चाहता हूँ उस आग को जो
मुझे आकाश में पहुँचा देती है और
बना देती है बरसने को आतुर बादल

बरसना चाहता हूँ

हर उस आदमी के भीतर जिसे
मेरे बरसने का है वर्षों से इंतजार

प्यास है मुझे पानी बनने की,
पानी बनना चाहता हूँ इसलिए कि
बुझा सकूँ किसी की प्यास,
बुझा सकूँ किसी की आस,
और हाँ,
बुझा सकूँ दिलों में जल रही कोई आग

डायरी में

डायरी में
कुछ आवारा कदम थे
विचारों में चलते हुए
और था मौत का सन्नाटा

गहरी-गहरी साँसों में
दर्द था डूबा-डूबा सा
और दूर-दूर तक
अँधेरा था डरा-डरा सा

अपने से ही बहस में
हारे हुए कई दिन थे

सहमे-सहमे से

अर्थ नहीं थे,
शब्दों के असंख्य समूहों का संघर्ष था
और था
रिक्तता से गूँजता आकाश

धीरे-धीरे विचारों में
फैल रहा था भोर का शोर
और मैं एकदम चुप हूँ

सच मानो,
कुछ दिन हुए कि
सारे दिन गुम हो गए
डायरी के गुम हो जाने पर
मेरी काँपती हुई स्मृतियों से

घर में

कई किताबें एवं अखबार हैं
जिनके वाक्य
किसी के पढ़ लिए जाने के इंतजार में
धुँधले हो गए हैं

बरसों पुरानी खाट
एक टूटा इंक पेन
पीतल का लोटा
पुराने सिक्के और
भगवान शालिग्राम

बंद पड़ी
दादाजी की घड़ी,
कोने में रखी पेटी,
दीवार पर टँगी

परदादाओं की तस्वीर
और
टूटी अलमारी में रखी
पोथी और धोती

कितना कुछ
बिखरा हुआ है घर में
हमसे बिल्कुल बेखबर या
हमारे नहीं मालूम होने के बावजूद
वस्तुएँ जी रही हैं चुपचाप

चुपचाप जी रही है
दीवार और छत भी
बरसों पुराना पंखा भी और
सच मानो तो
इतना बोलने व लिखने के बावजूद मैं भी

मेरे भीतर ही कहीं

अभी मैंने
आकाश कहा ही था कि
मछली ने पूछा –
किसे कहते हैं आकाश?

कुछ देर तक
मेरी आँखें
शून्य में कुछ खोजती रहीं
फिर मैंने कहा–
जो शून्य है, कहते हैं उसे आकाश

मछली ने
फिर से खड़ा किया प्रश्न कि
किसे कहते हैं शून्य?

मैंने सोचा
इस तरह तो बात
आगे बढ़ती ही जाएगी

तब मैंने मछली को
जल से बाहर निकाल कर कहा–
इसे कहते हैं आकाश और
इसे ही कहते हैं शून्य

और फिर वह
प्रश्न पूछने के लिए नहीं थी–शेष

राहगीर है मेरी कविता

मेरी कविता पढ़कर
तुम क्या समझते हो?
करते हो विश्लेषण या
नकार देते हो,
या फिर किसी एक वाक्य को
पेंसिल से करते हो रेखांकित

या, करते हो तुलना
अपनी या किसी दूसरे की कविता से
और पाते हो मेरी कविता को व्यर्थ

अनंत है संभावना कि
तुम हँस भर दो, रो दो
या चुप रहो

हो सकता है कि
तुम्हारी स्मृति पर चोट करें और
जगा दें तुम्हारी संवेदना

लेकिन
सच मानो कि
कविता के साथ
कुछ भी करना व्यर्थ है

उसके साथ तो
साथ होने में ही अर्थ है

उसी तरह जिस तरह कि हम
हो लेते हैं थोड़ी देर के लिए
किसी राहगीर के साथ

बेवफाई

तुम्हारे लिए
मैंने तो लिया
एक नया जन्म
फिर एक नई पुकार
और-
सच मानो,
तुम्हें ढूँढ़ता हुआ मैं
'मैं' को छोड़ते हुए

तुम्हारे लिए
फिर से
भटका खयालों में
तड़पा प्यार में और
ढूँढ़ा तुम्हें उसी शहर और
सच मानो, उसी गली में
जहाँ छोड़ गई थीं तुम
अपनी साँसें, कुछ यादें
और- सच मानो
मेरी बेवफाई भी

तुम्हारे लिए
जला था मैं,
जन्मा था मैं
तड़पा था मैं
परंतु,
तुम जब मिलीं तो
सच मानो,
इस बार–तुमने की बेवफाई...।

कविता! मुझे क्षमा करना

मैं देखता हूँ,
अपनी उन कविताओं को
जो कहीं भी नहीं छपीं या
जो अब दूसरों की बन गई हैं कविता
या जो गुम हो गई हैं और
कुछ तो कर गईं अंतिम प्रयाण

कविता! मुझे क्षमा करना
मैं तुम्हें किसी मकाम तक
नहीं पहुँचा सका
तुम जानती हो कि
मैं खुद भी किसी मकाम तक कहाँ पहुँचा

कविता! मुझे क्षमा करना,
तुम छपने के इंतजार में,
कागजों पर पीली होकर,
गुम हो गईं हवाओं में कहीं

जैसे कोई आँसू गुम हो जाता है
आँखों के भीतर ही कहीं
जैसे कोई शब्द गुम हो जाता है
कंठ के भीतर ही कहीं

और, जैसे कोई गुम हो जाता अपना
अपनों के बीच से ही आकाश में कहीं

नदी का होना

हाँ,
खिलता नहीं कोई कमल,
बनते नहीं सीप में मोती,
रेत और चट्टान पर
नहीं लिखी जाती कोई कहानी और तब
सच मानो,
बजती नहीं किसी राधा के लिए कोई बाँसुरी

हाँ यह सच है,
कोई चाँदनी लहरों के साथ नहीं नाचती
और- कोई धूप, कैसे बीजों के प्राण कँपाती
तब भला कोई कैसे बन जाता एक वृक्ष

सुन लो,
ना ही कोई मिट्टी के बनते घरौंदे,
तब कहो,
कैसे कोई कल्पना साकार हो पाती

बनती नहीं,
आकाश में कोई बदली तो
कहो बादलों का हृदय कैसे मचलता,
और- हवा
कहो कैसे नम होकर साँसों में घुल पाती

सच मानो,
तब होती नहीं मन में कोई गहराई
तब कैसे,
कोई तीर्थ जन्म ले लेता

और कहो कि
कोई उस पार कैसे चला जाता

और सुनो!
खाली-खाली होती समूची आस्था
फिर कहो
कैसे समुद्र के खालीपन को भरा जाता

वैसे का वैसे ही

मैं पेंट को पेंट की तरह
और बुशट को बुशट की तरह पहनता हूँ
और भूलता नहीं हूँ कि
मैंने पेंट व बुशट पहन रखे हैं

मैं दुनिया को दुनिया की तरह
और अपने को अपनी तरह देखता हूँ
और भूलता नहीं हूँ कि
मैं देखता भी हूँ

कुछ लोग सब कुछ भूल जाते हैं
मैं नहीं भूलता कुछ भी
क्योंकि मैंने
भूलने को भूलने की तरह
और याद करने को याद करने की तरह जाना है

प्रश्नों के अंतहीन-अँधेरे

घास फूस तिनके और
तिनकों का आकाश,
कुछ मिट्टी, कुछ पत्थर
और एक घेरा अँधेरा

और सुनो!
अँधेरे का एक कोना,
कोने में आस का एक दीया
हाँ, दीये में
उम्र का खत्म होता तेल
और तेल में
इच्छाओं की सकुचाई-सी एक बाती

अपने में ही सिकुड़ा-सा,
अँधेरे से कुछ डरा सा उजाला जो
छाया के धरातल पर लड़खड़ाता,
कुछ खोजता, खँगालता,
और
कुछ रोपता, झोंकता हुआ,
उत्तरों की खोज में-लेकिन
न जाने क्यों अचानक
फिर खड़े हो जाते हैं,
प्रश्नों के अंतहीन-अँधेरे

सम्पर्क : *इंदौर (म.प्र.)*
मो. 9827269633

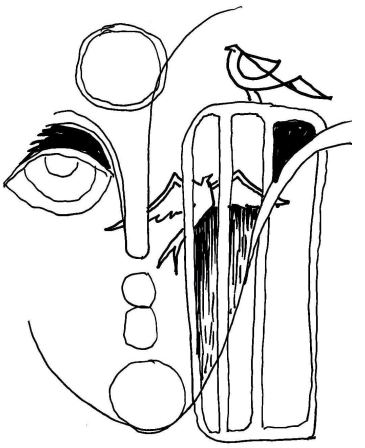

रामदरश मिश्र

आठ मुक्तक

1–
ज़िंदगी भी क्या कि अपनों में अकेली हो गई
मिली अनजानी कोई उसकी सहेली हो गई
खुल गए उत्तर सहज ही कठिन मसलों के कभी
बात छोटी-सी कभी मुश्किल पहेली हो गई

2–
ज़िंदगी कल लग रही थी शीत से ऐंठी हुई है
घने कोहरे की अँधेरी गुफा में पैठी हुई है
सो गए थे जो सहम कर जग उठे अब वे तराने
ज़िंदगी गाती वसंती धूप में बैठी हुई है

3–
इन दिनों मुझको न जाने हाय कैसा लग रहा है
है उदासी से भरा अब पंथ वह जो संग रहा है
आजकल आते दिवस जाते चले चुपचाप, फिर भी
लगा करता है कि भीतर गीत कोई जग रहा है

4–
है बंद घर में उमर थकी सी समय उसे ज्यों सुला रहा है
थका थका-सा सफर पथों की अनंत यादें भुला रहा है
अब लग रहा है अकेलापन ही मेरा साथी-सा हो गया है
परंतु रह-रह कर अब भी कोई कहीं से मुझको बुला रहा है

5-

ओ मेरे पग पता नहीं तुम कहाँ-कहाँ तक हो आये
जले रेत में, शीत में गले, कोसों चले, न घबराये
तरस रहा मन हाय गाँव की फसलों में हो लेने को
लेकिन दर्द भरे तुम अब घर में भी चलते सकुचाये

6-

बूढ़ा हुआ किन्तु बूढ़ेपन का अहसास न हो पाता है
शिथिल हुई इंद्रियाँ किन्तु मन अब भी नये गीत गाता है
यों तो तन है वर्षों चला थकन तो इसमें आनी ही थी
लेकिन अब भी इसमें इक बच्चा है रह-रह मुस्काता है

7-

गाँव अपने गये मुझको एक अरसा हो गया है
ख़्वाब जाने का विहग के भग्न पर-सा हो गया है
याद आते हैं वहाँ के लोग, फसलें, नदी, नाले
जा न पाता किन्तु मन तो गाँव-घर सा हो गया है

8-

राह हा! उसके अभावों की रवानी हो गई
रक्त से निर्मित कला दिन-दिन सयानी हो गई
ज़िंदगी पीती रही सबकी उपेक्षा का गरल
बाद मरने के अमरता की कहानी हो गई।

सम्पर्क : *नई दिल्ली (भारत)*
मो. 73031 05299

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

ईमानदार लाश

लाश पड़ी हुई है। लोगों को धीरे-धीरे खबर लगी। पड़ोसियों को तब पता चला जब लाश की बदबू उनके सिर में दर्द पैदा करने लगी। इससे पहले कोई बीमारी फैले और बदबू से जीना मुश्किल हो जाये, पड़ोसियों ने पड़ोसी धर्म निभाना उचित समझा। खिड़कियों से ताँक-झाँक की। द्वार खटखटाये, आवाजें दीं। चीखे-चिल्लाये। अन्दर से कोई आवाज न आने पर समझ गये कि व्यक्ति लाश में बदल चुका है। पुलिस को खबर दी। दरवाजे तोड़े गये और सामने उसका शव पड़ा था। पुलिस अपना काम करके निकल गई। इसी शहर में लाश के कुछ दूर-दराज के रिश्तेदार भी थे। जिनसे लाश के कभी कोई सम्पर्क नहीं थे। जब सम्पर्क ही नहीं थे तो आत्मीयता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन पड़ोसी तो शव को जलाने का अधिकार रखते नहीं थे और रखना भी नहीं चाहते थे। मुर्दा को श्मशान तक पहुँचाना और जलाना बहुत मेहनत और खर्चे का काम है। फिर इस मुर्दे ने अपने जीवन काल में किसी से कोई सम्बन्ध भी तो नहीं रखे।

कौन है? क्या करता है? किस जात-धर्म का है। किसी को ये भी तो मालूम नहीं है। टेलीविजन और संचार क्रांति के इस युग में व्यक्ति की संवेदनहीनता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है? इससे अच्छे पुराने समय के मोहल्ले थे। लोग एक-दूसरे के सुख-दुख में तो शामिल होते थे। कॉलोनी के इस आधुनिक युग में व्यक्ति अपने आम में इतना सिमट गया है कि उस मुर्दे की तकलीफदेह बदबू से पीड़ित होकर पड़ोसी को खबर लेनी पड़ती है। कभी इस लाश के घर कोई आया कहीं। कोई गया नहीं किसी को इसके बारे में कोई जानकारी नहीं। लगता है ये आदमी जिंदा था तब भी मृत समान ही जीता था। अन्यथा सगे सम्बन्धी कोई तो होते। ये कोई साधु नहीं था। बाकायदा इसका अपना खरीदा मकान है। कुछ काम धंधा, नौकरी, यार, दोस्त, घर-परिवार कुछ तो होगा। कोई तो होगा। आदमी एकदम अनाथ कैसे हो सकता है। खबर फैलती गई। छोटा सा शहर। लोगों को पता चलना ही था। कुछ लोग आ गये।

'ये मेरे चाचा लगते हैं' एक ने कहा।

'तुम कभी दिखे नहीं' पड़ोसी ने पूछा।

'दूर के रिश्ते के हैं। काम-काज की व्यस्तता के चलते आना न हो सका कभी। लेकिन अब रहे नहीं तो आना ही था। आखिर भतीजा हूँ इनका।'

'ये मेरे मामा लगते हैं।' दूसरे ने कहा।

'तुम भी कभी नहीं दिखाई दिये।' पड़ोसी ने पूछा।

'मामाजी किसी से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे। फिर रोजी-रोटी, घर-परिवार की चक्की में पिसता हुआ आदमी रोटी बनकर पेट के चक्कर में ही पड़ा रहता है लेकिन अब नहीं रहे तो आना ही पड़ा।'

'ये मेरे पिता समान थे।' तीसरा स्वर सुनाई दिया।

'वो कैसे' पड़ोसियों में से एक आवाज आई।

'मेरे पिता के साथ आयकर विभाग में थे। जब नौकरी में थे हमारे घर आते-जाते थे। बहुत सच्चे और ईमानदार आदमी थे। विभाग इन्हें बर्दाश्त नहीं कर पाया। एक दिन मेरे पिता ने बताया स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले लो अन्यथा कोई आरोप लगाकर सस्पेंड कर दिये जाओगे। तुम्हारी ईमानदारी बर्दाश्त के बाहर हो रही है। अपनी इज्जत बचाने के लिए सेवा निवृत्त हो गये और इस कॉलोनी में अपनी जमापूँजी से ये जूनियर एल.आई.जी.का मकान खरीद लिया। ईमानदारी में इतना ही आ सकता था उस समय। अब तो इतना भी नहीं आता।' तीसरे स्वर ने कहा।

तब पड़ोसियों को स्पष्ट हुआ कि यह मरा पड़ा व्यक्ति अपने जीवनकाल में सरकारी कर्मचारी था। यह उसका खरीदा मकान था। और इसका नाम रामशंकर पांडे था। तभी एक और सज्जन ने आकर अपना रिश्ता बताया कि ये मेरा भाई था।

'तो आप अब तक कहाँ थे।' पड़ोसियों का स्वर था।

'सगा नहीं भाई समान था। बचपन का दोस्त। साथ पढ़े-लिखे। साथ बड़े हुए। इसने अपनी नैतिकता, सच्चाई और अच्छे चाल-चलन की वजह से यह अकेलापन पाया है। न शराब का शौक न कबाब का न शबाब का। सारे जवानी के दोस्त इसकी शराफत के कारण हट गये। जो निकटस्थ थे वे इसके खरे स्वभाव और दो टूक बात करने, सच को सच कहने के कारण दूरस्थ हो गये। इसके गुण आज के जमाने में अवगुण बन गये और यह मेरा दोस्त समाज से दोस्तों से, परिवार से दूर फिंकता चला गया। सबने इससे किनारा कर लिया।'

'तो इसका परिवार भी है, कहाँ है?' पड़ोसियों का स्वर गूँजा।

'अब नहीं है। पहले था। पिता की मृत्यु पश्चात् इसे अनुकम्पा नौकरी मिली थी। माँ के भीषण एक्सीडेंट के इलाज में सरकारी डॉक्टर ने रिश्वत माँगी। इसने देने से इंकार कर दिया। डॉक्टर ने, इसके दोस्तों ने खूब समझाया। माँ के जीवन का सवाल है। भ्रष्टाचार आजकल व्यवहार है। माँ से बढ़कर कोई नहीं दुनिया में। लेकिन इस कठोर हृदय को दया न आई। अपने उसूलों पर अड़ा रहा। डॉक्टर ने इलाज नहीं किया ढंग से। माँ मर गई।'

'बड़ा पापी, कठोर आदमी था।' पड़ोसियों की आवाज में कुछ घृणा सी थी।

'और इसके भाई-बहन' किसी पड़ोसी ने पूछा।

'एक बहन थी। ऐन शादी के समय लड़के वालों ने स्कूटर की डिमांड की। यह सक्षम था देने में। लेकिन दहेज के विरुद्ध था ये। इसने अपने भाई को भी मना कर दिया। भाई ने देने कोशिश की तो इसने पुलिस में कम्पलेन्ट कर दी। बारात वापिस हो गई। बहन ने कुएँ में कूदकर जान दे दी और भाई को दो

दिन हवालात में गुजारनी पड़ी इसके कारण। तब से भाई ने इससे हमेशा के लिए सम्पर्क तोड़ लिया।'

'उफ कितना जल्लाद आदमी था। माँ का कातिल। बहन का हत्यारा।' सभी उस शव को हिकारत की नजरों से देखने लगे।

तभी किसी पड़ोसी ने कहा- 'लेकिन अब इसका भाई कहाँ है? अब इसके अंतिम संस्कार के लिए तो उसे बुलाना चाहिए।' भाई समान सज्जन ने उदास स्वर में कहा- 'इनका भाई तो इन्हीं के रहमोकरम के कारण जेल में है। अपने ही भाई के घर छापा मारा। उस पर केस बनाया। उसे अन्दर कर दिया। भाई लाख गिड़गिड़ाया। पैसों का ऑफर दिया लेकिन ये नहीं माना।'

सभी की घृणा और बढ़ गई। इतना गिरा हुआ आदमी। अपने दो कौड़ी की ईमानदारी और उसूलों की वजह से पूरे परिवार को ले डूबा। आदमी की शक्ल में शैतान। तभी इसकी लाश यहाँ पड़ी-पड़ी सड़ रही है। कोई पूछने वाला नहीं।

'और इसके बीबी-बच्चे' पड़ोसियों में से किसी की आवाज आई।'

'जब शादी ही नहीं की तो बच्चे कहाँ से आयेंगे।'

'शादी क्यों नहीं की?'

'रिश्ते तो कई आये थे। लेकिन लड़की का पिता दहेज में कुछ न कुछ तो देना चाहेगा। जनाब इंकार करते गये। कौन देगा ऐसे व्यक्ति को अपनी लड़की। जो समाज के नियमों के विरुद्ध चलता है। कहता था कि शादी में फूटी कौड़ी नहीं चाहिए और शादी होगी तो सादगी से। मंदिर में, आर्य समाज में, कोर्ट में। अब बिना बैंड-बाजा-बारात के तो गरीब से गरीब पिता भी अपनी कन्या नहीं देगा। आखिर लड़की के पिता को भी समाज में अपना मुँह दिखाना है। सो बात बनी नहीं। फिर एक दिन दलित समाज की कैंसर पीड़ित लड़की को अस्पताल में ही किसी नाजुक और भावुक क्षणों में वचन दे दिया कि आज से तुम मेरी पत्नी और खुशी के मारे वह लड़की अस्पताल में ही मर गई। तब से ये उसी वचन को याद किये जीते रहे।'

फिर उन सज्जन ने एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए कहा- 'अब कहाँ तक बतायें एक अवगुण हो तो कहें। ये व्यक्ति जीवन भर नैतिकता, ईमानदारी की अर्थी ढोता रहा। ये समाज विरोधी, जाति विरोधी, दहेज विरोधी, परिवार विरोधी, भ्रष्टाचार विरोधी....और क्या-क्या कहें। इसे जीने का कोई हक था भी नहीं। मृत व्यक्ति की बुराई करना शोभा नहीं देता। ये यारों-दोस्तों को डाँटता था। उनसे लड़ता था। कहता था तुम लोग दोगले हो। खोखले हो। भ्रष्ट हो। गिरे हुए हो। कहते कुछ हो, करते कुछ हो। दोस्तों ने इसे लाख समझाया कि जमाने के हिसाब से चलना पड़ता है लेकिन ये नहीं समझा। एक बार अपने एक व्यापारी मित्र की मिलावटखोरी को देखकर इसने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया। लोग इकट्ठे हो गये। पुलिस आ गई। उस दोस्त का अच्छा-खासा धंधा बन्द हो गया। उसकी बेइज्जती हुई सो अलग। उसने गुस्से में इससे पीड़ित चार-छः दोस्तों के साथ मिलकर इसकी जमकर धुनाई की और इसे मित्र समूह से बहिष्कृत कर दिया। ये मित्र द्रोही था।'

'इसका इलाज नहीं करवाया। आपकी बातों से तो लगता है कि ये पागल था। मानसिक संतुलन बिगड़ा था इसका' पड़ोसियों ने कहा। लाश की बदबू बढ़ती जा रही थी। सबने अपनी नाक पर रुमाल

रखते हुए कहा- 'इस मुसीबत से जल्दी पीछा छूटे तो अच्छा है। आप लोग इसे श्मशान ले जाने की तैयारी करिये।'

'देखिये श्मशान घाट दूर है। फिर कितनी गर्मी है। अच्छा है कि हम शव वाहन बुला लें भतीजे ने कहा।

'उसके लिए पैसा लगता है।' भानजे ने कहा।

'फिर फ्री में मुर्दा नहीं जलता। लकड़ी के भाव मालूम हैं। श्मशान घाट के रेट पता हैं।' पुत्र समान ने कहा।

'वो सब मैं कर दूँगा। आखिर इसका मेरे सिवाय है ही कौन। फिर इसके घर, जमा पूँजी पर भी तो मेरा ही अधिकार है। उसी में से काट लूँगा।' भाई समान सज्जन ने कहा। इतना सुनना था कि भतीजा, भानजा, पुत्र समान लगने वालों का माथा ठनक गया। वे अपने-अपने ढंग से चीखे।

'हमें बेवकूफ समझा है क्या? हमारे चाचा हैं। हमारा हक बनता है।'

'हम क्या यहाँ झक मारने आये हैं। हमारे मामा हैं। जो है, हमारा है।'

'मेरे पिता समान हैं। तो पुत्र का प्रथम अधिकार है।'

'मेरा भाई है। सगा नहीं तो क्या हुआ? भाई-भाई होता है। मैं इसके बचपन का साथी हूँ इसके बाद इसका जो कुछ है मेरा है।'

'मित्र का कोई अधिकार नहीं। चाचा, पिता समान होता है।'

'साबित करो कि तुम इसके भतीजे हो।'

'तुम साबित करो कि तुम इसके भानजे हो। अरे जब बहन की शादी ही नहीं हुई। तो भानजा कहाँ से आ गया।'

'तो जब भाई का अता-पता नहीं। भाई की कोई औलाद ही नहीं है तो भतीजा कहाँ से आ गया।'

'और ये पुत्र समान क्या होता है? नौटंकी साले क्या तेरी माँ के साथ...'

'खबरदार।'

और वे शव के समक्ष ही आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। झगड़ा बढ़ा तो गाली-गलौच शुरू हो गई। और जिसका पलड़ा कमजोर होता वह हाथ-पैर से बात करने लगा। फिर इधर-उधर से लाठियाँ तलाशकर लाठियाँ चलने लगीं। एक पड़ोसी ने अपने बच्चे को एक कोने में ले जाकर डाँटते हुए कहा- 'बस क्रिकेट, टी.वी. लड़की बाजी में ही लगे रहे। पड़ोस में कोई बुजुर्ग रहता है। ये देखने का समय नहीं मिला। थोड़ी सेवा कर लेता तो बुजुर्ग का सब कुछ आज तेरा होता। लेकिन तुम्हें तो अपनी मौज मस्ती से फुर्सत ही नहीं।'

एक पड़ोसन ने अपने बेटे से उदास स्वर में कहा- 'बेटा, पढ़ाई के साथ दुनियादारी की खबर भी रखना। जो संसार में चल रहा है। उसी पर चलना अन्यथा इस वृद्ध की तरह हाल होगा। किसी को पता भी नहीं चलेगा। सबक सीखो इस आदमी की मौत से? ईमानदारी आटे में नमक बराबर करना। नहीं तो न घर बसेगा, न नौकरी। न माँ-बाप, न भाई-बहन न दोस्त। कुछ नहीं बचेगा। बेटा दुनिया जैसी चाल चले वैसे ही चलना।'

तभी मित्र समान भाई ने कहा- 'इस तरह आपस में लड़ना ठीक नहीं। आपस में देख समझ लेंगे। हो-हल्ला से दावेदार बढ़ सकते हैं।'

'बात आपने शुरू की थी।'

'चलो बात पर राख डालो। इसका फैसला मिलकर बाद में कर लेंगे। फिलहाल अंतिम क्रिया की तैयारी करो। कुल जमा बीस हजार खर्च होंगे। शव वाहन से लेकर कफन, रस्सी, बाँस, फूल माला, मटकी, अंतिम संस्कार के लिए लकड़ी, अस्थि विसर्जन, तेरहवीं का भोज। निकालो पाँच-पाँच हजार रुपये। मेरे पाँच हजार ये रहे।'

भानजे, भतीजे और पुत्र समान ने कहा- 'हम तो बेरोजगार ठहरे। हमारे पास कहाँ इतने रुपये?'

'अच्छा, हिस्सा लेने के लिए मरे जा रहे थे। बेटा आदमी के मरने पर भी बहुत खर्चा होता है।' मित्र समान भाई ने कहा।

वे तीनों बेकारी की मार से विकल होकर भाई समान मित्र की शरण में आकर बोले- 'अंकल आप ही कोई रास्ता निकालिए।'

'अब आये न रास्ते पर। मकान बेचकर और कुल रकम में से जो मिलेगा। उसमें से मैं ब्याज सहित 40,000/- पहले काटूँगा। आखिर मुर्दे को ब्याज दे रहा हूँ।'

'लेकिन अंकल आप तो इसके बचपन के दोस्त हैं।'

'हाँ, हूँ तो जब जिन्दा था तब दोस्त था और इसने कभी दोस्ती नहीं निभाई। एक बार नकल कर रहा था बी.ए. की परीक्षा में। इसने मुझे पकड़वा दिया था। मैं तो खुश हूँ कि इसकी मौत पर अपनी कमाई करके बदला ले सकूँ। बोलो मंजूर है नहीं तो मैं चला। तुम्हीं कर लो सब और लूट लो। अगर लूट सको तो।'

भाई समान मित्र ने तीनों दावेदारों को धमकाया। तीनों की स्थिति मरता क्या न करता की थी। उन्हें लगा भागते भूत की लँगोटी भली। यदि इसकी बात मान ली तब भी बहुत हाथ आयेगा। अकेला मकान कम से कम 25 लाख का होगा। उन्होंने कहा-'हमें मंजूर है' तो शव को जनाजा बनाने के लिए मित्र समान भाई ने रुपये दिये। तीनों वारिस दौड़कर सब सामान ले आये। शव वाहन नहीं मिला। कहीं और गया हुआ था। एक दिन में न जाने कितने लोग मरते हैं और शहर में मात्र दो ही शववाहन थे सरकारी। गैरसरकारी वाहन वालों ने जरूरत देखकर अपने दाम बढ़ा दिये। फिर ये तय हुआ कि शव को कंधों पर ढोकर ले जाना ही ठीक है। वे चार तो हैं ही। एक-दो अड़ोसी-पड़ोसी भी मनुष्यता के नाते, पड़ोस के नाते, धर्म के नाते पीछे-पीछे राम-राम सत्य है कहकर चलने लगे। पीछे वाले कुछ दूर तक पीछे चले। फिर कुछ गर्मी से आहत होकर, किसी का मोबाइल बज उठा। किसी को कोई काम याद आ गया। किसी को लगा निभा तो लिया, हो गया बहुत। इस तरह एक-एक करके सभी लौट गये।

अब ये चार दावेदार मन ही मन हिसाब लगाते चल रहे थे। कितना किसके हिस्से में आयेगा। ईमानदार अकेले व्यक्ति की मौत पर कोई सच्चा रोने वाला, करुण विलाप करने वाला नहीं मिलता। जो भी आते हैं वे व्यवहारिकता निभाने, लोगों को दिखाने या कुछ पाने की लालसा में आते हैं। ईमानदार आदमी के पास जेब में भले फूटी कौड़ी न हो। भले ही जीवन भर वह अपमान, प्रताड़ना सहता रहे।

अकेलेपन का दंश सहता रहे। लेकिन उसके अन्दर एक विशेष हठीलापन, अकड़ होती है। वह किसी बात पर डरता नहीं वह किसी के सामने गिड़गिड़ाता नहीं है। भले ही लोग उससे कतरायें, बचें, डरें। दूर भागें। उसे अव्यवहारिक अकड़ कहें। मुँहफट कहें। लेकिन ये उसका स्वयं पर गर्व करना होता है जो उसकी ईमानदारी की वजह से उसमें प्राकृतिक रूप से आ जाता है।

'आपके शव वाहन के पैसे तो बच गये अंकल' भानजे ने कहा।

'तुम कहना क्या चाहते हो' मित्र समान भाई ने कहा।

'तो ये कि आपके बीस में से 3 कम हो गये तो उसका ब्याज भी खत्म हो गया?' भतीजे ने कहा।

'हाँ बात तो सही है।' पुत्र समान पुत्र ने हाँ में हाँ मिलाई।

'एक बात कहूँ। ये अस्थि विसर्जन के लिए गंगाजी जाना पुत्र का काम है। और गंगाजी इधर से बहुत दूर है। शादियों का सीजन चल रहा है। बस और ट्रेन में जगह नहीं है। फिर गंगाघाट के पंडे सस्ते में नहीं छोड़ते। तुम ये काम कर दो तो तुम्हारी बात माने?' भाई समान मित्र ने कहा। तीनों सन्नाटे में आ गये। भतीजे ने कहा- 'अंकल कहाँ आप भी पंडितों की बात में लगे हैं। कोई आस-पास की नदी में अस्थियाँ बहा देंगे।'

भानजे ने हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा- 'मैं भी इन ढकोसलों को नहीं मानता। पंडों की कमाई के चोचले हैं सब। फिर अब गंगा मैया खुद प्रदूषण से जूझ रही हैं। ऐसे में अस्थि विसर्जन से कहाँ व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी।'

'अरे बेटा, इस पापी आदमी ने अपनी ईमानदारी की बीमारी के चलते इतने लोगों का दिल दुखाया है, इतने लोगों को नुकसान पहुँचाया है कि गंगा में बहाओ या गंगोत्री में। इसे मुक्ति नहीं मिलना। आखिर लोगों की आहें, बददुआयें भी कुछ होती हैं।' भाई समान ने कहा।

'लेकिन यहाँ आस-पास की नदियों में पानी है कहाँ? सब सूखी पड़ी हैं/हाँ, एक नाला है। क्या इसमें....' बेटे समान ने कहा। हिस्सा चाहिए। बेटे बनते हो। नाले में अस्थि बहाओगे। शर्म नहीं आती। अपने बाप की अस्थियाँ बहाना। नाले में मित्र समान भाई ने कहा- 'पैसा बचाने की पड़ी है। अरे अपने शहर में नहीं तो आस-पास शहर की नदी में बहा देना।'

पुत्र समान को गुस्सा आ गया। वह बोला- 'देखिये अंकल मेरे बाप तक जाने की जरूरत नहीं है। अगर आप स्पेशल गाड़ी के पैसे दें तो गंगाजी में बहा आऊँ। घूमना भी हो जायेगा।'

'तुम्हें घूमना है वो भी मेरे पैसों से।'

'ये मेरे-तेरे क्या लगा रखा है? सब इस लावारिस का है आप अपना हिसाब कर लेना' भतीजे ने कहा। 'बस इतना है कि आप पहले पैसा खर्च कर रहे हैं।'

अर्थी को लादे तीनों बहस करते, हिसाब-किताब करते चले जा रहे थे।

'पता नहीं इसने कुछ छोड़ा भी है या नहीं। ईमानदार आदमी भरोसे के लायक नहीं होता।' भाई समान ने कहा- 'कहीं ऐसा न हो कि मेरा पैसा डूब जाये।' ये कहकर वह रुक गया। बाकी तीनों को भी रुकना पड़ा।

'अरे कुछ नहीं होगा तो मकान तो है न।' भानजे ने कहा।

'मकान बिकना इतना आसान है क्या।' भतीजे ने कहा।

'सरकारी लिखा-पढ़ी में वारिस बनना आसान थोड़े ही है। फिर मकान किसी एक के नाम होगा।' बेटे समान ने कहा।

'फिर क्या जरूरी है कि वो ईमानदारी से हिस्से दे। नहीं भाई, पहले तय कर लो। मकान मेरे नाम होगा। पैसा पहले मैं लगा रहा हूँ।'

'ऐसे कैसे आपके नाम होगा' भानजे, भतीजे, पुत्र ने कहा।

अब चारों रुक गये। उन्होंने जनाजा कंधे से उतारा। पहले तय करने पर अड़ गये कि किसको, कितना मिलेगा। मकान किसके नाम होगा। शव एक तरफ यूँ रखा गया जैसे कोई व्यर्थ का बोझ।

'मकान मेरे नाम होगा।' पुत्र ने कहा।

'वकील, रजिस्ट्रार, दलाल को पैसे देने की औकात है तुम तीनों में।'

भाई समान ने गुस्से में कहा।

अब तीनों भड़क गये। 'अंकल पैर तो आपके कब्र में लटके हैं और पैसों के लिए मरे जा रहे हैं। आप ऐसा करिये। मकान को आप लिखवा लीजिए। हमें अपना हिस्सा अपने पास से दे दीजिये।'

'रुपये क्या मेरे जेब में पड़े हैं। बेवकूफ समझा है कि पराये मकान के लालच में लाखों बाँट दें।' भाई समान गुस्से में बोला।

'आपकी नीयत में खोट है।' भतीजे ने कहा।

'आप दे दीजिए। नौकरी से रिटायर हैं। जमा पैसा तो मिला ही होगा।' भानजे ने कहा।

'मेरी जीवन भर की जमा पूँजी पर नजर है।' भाई समान मित्र ने चीखकर कहा। आपस में तकरार होने लगी। पुत्र समान ने कहा- 'पुत्र होने के नाते मेरा अधिकार है। मैं अस्थि विसर्जन करूँ। गंगाजी जाऊँ। फिर नहाऊँ। तेरहवीं के कार्यक्रम को सम्पन्न कराऊँ। इतने बार नहाना, जाना। हो सकता है सिर मुँडाना पड़े तो फिर भानजे-भतीजे का क्या लेना-देना?' ये सुनकर भानजे-भतीजे गुस्से में आ गये।

'हराम का माल अकेले नहीं खाया जाता। हमें नहीं मिला तो हम किसी और को भी नहीं लेने देंगे।'

बहस बढ़ती गई। वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। जनाजे में रखा शव एकतरफ पड़ा था। वे चारों हिस्सेदार, जूतमपैजार पर उतर आये।

तभी एक शव वाहन उनके पास आकर रुका। दो वार्ड बाय जैसे लोग और एक वकील उतरा। वकील ने जोर से कहा- 'किसकी इजाजत से शव ले जा रहे हो और यहाँ शव क्यों रखा है? जनाजे के सामने हाथापाई करते शर्म नहीं आती?'

'वो हम हिस्से की बात।'

'कैसा हिस्सा, मैं स्वर्गीय पांडे जी का वकील हूँ इनकी वसीयत मेरे पास है। शव को उठाकर गाड़ी में रखो।' वकील ने दोनों साथ आये लोगों को आदेश दिया। चारों के चेहरे उतर गये। भाई समान मित्र ने हकलाते हुए पूछा 'कैसी वसीयत?'

'सुनना चाहोगे' वकील ने कहा।

'जी' चारों ने एक साथ कहा।

'तो सुनो' कहकर वकील साहब ने वसीयत का कागज निकालकर पढ़ा। मैं रामशंकर पांडे अपनी ईमानदारी से जीवनभर अनाथ की तरह अकेला जिया हूँ। मुझे अपनी ईमानदारी पर गर्व है। हो सकता है मेरे मरने के बाद मेरे छोटे से मकान और जमा पूँजी के लिए कुछ लालची कुत्ते मुझे अपना बाप, भाई, मामा, चाचा मानकर खाने के लिए दौड़ें। मैं स्पष्ट करता हूँ कि यदि कोई मेरे मरने के बाद ऐसा दावा करता है तो वह पूर्णत: काल्पनिक और झूठा होगा। जो ऐसा दावा करे वह गैरकानूनी होगा। चार सौ बीसी होगी। न माने तो इनपर केस चलाया जाये। इन्हें जेल भेजा जाये। मेरे शरीर की अंतिम क्रिया में न किसी को अपना धन खर्च करके धर्मात्मा बनने की जरूरत है न मेरे शव पर अहसान कहने की। मेरे जीवित कर्म ही मेरी सद्गति तय करेंगे। सो मरने के बाद भी मेरा शव किसी का पेट न भर सके। मेरे लिए आनन्द की बात होगी। मेरे शव को पारसी धर्म अनुसार चील-गिद्धों के लिए रख दिया जाये। मेरी जमा पूँजी और मकान बेचकर प्राप्त राशि कैंसर पीड़ितों के इलाज के लिए दान कर दी जाये। कोई जबरदस्ती दावेदारी करें तो उसपर 420 का मुकदमा चलाया जाये।

'जेल जाना चाहोगे।' वकील ने चारों से पूछा।

'नहीं।' वे अन्दर तक काँपकर एक साथ बोले।

शव के चेहरे पर अजीब सी चमक थी। जो शायद जमीन खोर, आत्महीन भ्रष्ट्र नहीं देख सकते थे। वकील शवगाड़ी के साथ शव लेकर चला गया। वे चारों उस शव को कोस रहे थे। उसकी ईमानदारी को, उसकी चालाकी को। वे वहीं बैठे धूप में रहे। उदास थे। मानो उनकी जन्म भर की पूँजी मेहनत की गाढ़ी कमाई लुट गई हो।

'सारी, मेहनत बेकार गई।' भानजे ने कहा।

'सारे सपने टूट गये।' भतीजे ने कहा।

'कितना गिरा हुआ आदमी था। जीते जी लोगों को तकलीफें देता रहा और मरने के बाद हमें कंगाल कर गया।' पुत्र समान पुत्र ने कहा।

'अरे भाई, ये ईमानदार किसी के सगे नहीं होते। न ये किसी के मित्र न भाई न पिता, न दोस्त होते हैं इनसे जीते जी और मरने के बाद भी सावधान रहना चाहिए। समाज, परिवार, धर्म, जाति सम्बन्धों पर कलंक होते हैं ये। ये कुछ नहीं बस ईमानदार होते हैं। पागल सनकी, जमाने के साथ-साथ स्वयं के दुश्मन।'

वे चारों अफसोस करते हुए अंत में ये सोचकर अपने-अपने को तसल्ली देते उठे कि अच्छा है अग्नि संस्कार नहीं कर पाये अन्यथा गये थे चार सौ बीसी में जेल।

सम्पर्क : *छिन्दवाड़ा (म.प्र.)*
मो. 9425405022

डॉ. कमल चतुर्वेदी

सरला मैडम के मिस्ड कॉल

उस दिन सरला मैडम ने उसे बताया था, कि शांति-भवन में चित्रकला-प्रतियोगिता होने वाली है, और उसे उसमें भाग लेना चाहिये। चित्रकला का नाम सुनते ही विवेक खुश हो गया था। गहरी रुचि रखता था वह चित्रकला में। उसने मैडम को धन्यवाद देते हुए फोन पर ही कहा था, थैंक्यू मैडम, आपने बहुत अच्छा किया, मुझे बता दिया, मैं जरूर भाग लूँगा, मैं अभी जाता हूँ। थैंक्यू अगेन मैडम, कहकर वह शांति-भवन की ओर चला गया।

सौभाग्य से उसे द्वितीय पुरस्कार भी मिल गया, तो वह सीधा सरला मैडम के पास उनके स्कूल पहुँच गया था। उसने वहाँ देखा, अपने काम में तल्लीन, चेहरे पर शांति और होठों पर एक हल्की सी स्मित लिये एक गोरी चिट्टी मैडम बैठी हुई थीं। उन्हीं से उसने पूछा था, सरला मैडम कहाँ मिलेंगी? तब उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा था, मैं ही हूँ सरला शेखर सहाय। विवेक ने कल्पना भी न की थी, कि सरला मैडम ऐसी रूपवान भी होंगी। उसकी कल्पना में निहायत ही सामान्य सी प्रौढ़ महिला की छवि ही सरला मैडम के रूप में थी। तब उसने भी अपना परिचय दिया था- मैडम मैं विवेक-विवेक अवस्थी बी.ई.फायनल, इलेक्ट्रॉनिक्स, टैलीकम्यूनिकेशन, मैडम मेरी रुचि, साहित्य संगीत और चित्रकला में बहुत है, मैं कुछ और भी करना चाहता हूँ..मैडम आपके कारण ही मैं चित्रकला में सेकेण्ड आया हूँ। थैंक्यू सो मच मैडम।

बस-बस अब ज्यादा थैंक्यू मत कहो... मुझे तुम्हारे विषय में सब मालूम है, तुम्हारे प्रोफेसर निशिकान्त सक्सेना, हमारे पड़ोसी हैं। उन्होंने ही तुम्हारा मोबाइल नम्बर दिया था और कहा था, सरला जी होनहार लड़का है, कहीं कुछ संगीत वगैरह हो तो बता दिया कीजिये। आप तो सब जगह सम्मानित होती हैं, तो लड़का भी कुछ सीख लेगा। बस इसीलिये तुम्हें फोन कर दिया था, ऐसे ही बैठे-बैठे, इसमें थैंक्यू जैसा क्या है। क्या नाम तुम्हारा विपिन ... अरे हाँ विवेक। बहुत सहज भाव से बिना किसी औपचारिकता के सरला मैडम, विवेक से इस तरह मिली थीं, पहली ही बार, कि विवेक उनका प्रिय शिष्य बन गया।

फिर मोबाइल पर आयोजन की जानकारियों का सिलसिला रफ्तार पकड़ता चला गया। सरला मैडम के बताए आयोजनों में विवेक जाता तो जरूर ही कोई न कोई पुरस्कार उसे मिल ही जाता। सक्सेना सर के ही साथ पहली बार वह सरला मैडम के घर भी पहुँच ही गया था। मैडम सरला के द्वारा बनाई गई दो कलाकृतियाँ भीतर हॉल में लगी थीं। कलाकार की संवेदना को मुखरित करती स्त्री-केन्द्रित पेटिंग्स को विवेक देखता ही रह गया। सेव के ठेले पर से सेब चुराने का प्रयास करती नटखट आँखों वाली

लड़की का चित्र इतना सजीव लग रहा था, कि लड़की कहीं चोरी करते पकड़ी ही न जाए। मछली पकड़ती मछुआरिनों का चित्र बेहद सुंदर बन पड़ा था। उसका और सक्सेना सर का आतिथ्य करती मैडम एकदम अपनी सी लग रही थीं, उनकी चंचल परन्तु शांत आँखें जैसे निरन्तर बोलती चली जा रही थीं।

विवेक को तब उनके विषय में बताया था उनके पति शेखर सहाय ने... तो विवेक, आपकी मैडम पैदा तो श्रीनगर में हुईं, मेरठ से समाज शास्त्र में एम.ए. किया और प्रसिद्ध व्यापारी रतन शाह के सुपुत्र शेखर यानी हमसे इनका विवाह हुआ। रीजनल कॉलेज से इन्होंने बी.एड. कर लिया और सुभाष एक्सीलैन्स स्कूल में पढ़ाने लगीं और हम पढ़े तो एम .टेक. तक हैं, पर कीटनाशक और बीज-भंडार में ही उलझ कर रह गए। 'हरीतिमा-बीज भंडार' तो सुना ही होगा। अपना ही है और दो बच्चों के पिता भी बने पर सिर्फ तीन-तीन दिनों के लिये...। मैं और तुम्हारी सरला मैडम लगभग पूरा भारत घूम चुके हैं ...अब स्विट्जरलैन्ड जाने का इरादा है...। कितना परिचय दोगे... बेचारा बोर हो गया होगा... बैठो बेटा विवेक। सरला मैडम का सब्र था यह।

इस प्रकार विवेक उस परिवार से जुड़ता चला गया। शेखर सहाय और सरला मैडम दोनों का स्नेह उसे लगातार मिलने लगा। सरला मैडम प्राय: विवेक को मोबाइल पर तरह-तरह से समझाया करती थीं। निराशा के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा देतीं। प्रतिदिन विवेक उनके फोन की प्रतीक्षा करता। जिस दिन सरला मैडम का फोन नहीं आता विवेक परेशान हो उठता। सरला मैडम का आत्मीय लगाव विवेक को कठिन समय में भी सहज ही बनाए रखता।

विवेक का बी.ई. का रिजल्ट बहुत ही अच्छा आया था। सरला मैडम ने उसे घर पर भोजन हेतु बुलाया और नौकरी हेतु प्रयास करने के लिये प्रेरित किया था। सरला मैडम रोज उसे कहीं न कहीं आवेदन देने हेतु फोन पर बताती ही रहतीं और विवेक हर जगह एप्लाई करता रहता। और फिर उसे मुम्बई में नौकरी भी मिल गई। कैप जैमिनी कंपनी में उसे टैक्नीकल कंसलटैन्ट का जॉब मिल गया था। बहुत से आशीर्वाद, शुभकामनाओं और सरला मैडम द्वारा बनाकर दिये गए नमकीन और मिठाई लेकर वह मुम्बई जा रहा था तो सरला मैडम फोन पर भावुक हो गई थीं... विवेक, अपना ध्यान रखना, पहुँचते ही फोन करना, पूरी व्यवस्था होने पर बताना।

मुम्बई आते ही विवेक महानगरीय बोध की आधुनिक विकृतियों की गिरफ्त में आने लगा था। जल्दी अमीर बनना, खुद का फ्लैट, धन की बढ़ती चाह, बाजारवाद की प्रभावशाली भूमिका ने उसे भी अधिक व्यक्तिवादी और स्वार्थी बनाना शुरू कर दिया। यदि सरला मैडम का उपदेश देता हुआ, अपनत्व भरा फोन उस दिन समय पर नहीं आता तो शायद वह मूल्यहीनता के बढ़ते ग्राफ में भी घिर गया होता। सरला मैडम बार-बार उसे समझाया करतीं- ...देखो मुम्बई में किसी लड़की के चक्कर में मत आ जाना, वहाँ की लड़कियाँ बड़ी तेज होती हैं, पैसे फालतू खर्च मत करना, देखो समुद्र किनारे ज्यादा मत जाना...। साल में दो बार विवेक भोपाल आता था। सरला मैडम के लिये सुंदर सा पर्स लाया था विवेक, तो सरला मैडम बहुत खुश हुई थीं। उसे भी उन्होंने बहुत सुंदर स्वेटर अपने हाथ से बुनकर दिया तो विवेक हँसकर बोला था -मैडम मुम्बई में ठंड ही नहीं पड़ती आपने बेकार मेहनत की। अरे तो क्या कभी ठंडे स्थानों पर नहीं जाएगा। वहाँ पहन लेना, कहीं न कहीं तो ठंड पड़ती ही है, सरला मैडम ने स्वेटर उसे स्नेह से देते हुए कहा था।

उस दिन सरला मैडम ने मोबाइल पर विवेक को बताया था, कि वे रिटायर हो गई हैं। अब तो उन्हें फुरसत ही फुरसत है, अब वे उसे ज्यादा से ज्यादा फोन करेंगी। हर बात बताएँगीं। हुआ भी यही सुबह से ही सरला मैडम उसे फोन लगा देतीं। तरह-तरह की हिदायतें देतीं- पावबड़ा मत खाना, चाऊमीन, पिज्जा मत खाना, होटल का सामान नुकसान दायक होता है- सुना तुमने...।

विवेक के जीवन में, मेन रोड, चामराज पेठ, बैंगलोर की आकृति क्या आई उसका जीवन ही बदल गया। आकृति को देखते ही उसने निश्चय कर लिया कि वह इसी से विवाह करेगा। प्रेम-प्रसंग दोनों ओर से उत्पन्न हो गया था। सामने के फ्लैट में रहने वाली आकृति के माता-पिता की भी सहमति मिल गई थी और विवेक आकृति से शीघ्र विवाह करना चाहता था।

उस दिन आकृति सामने ही बैठी थी और सरला मैडम का फोन आ गया था। विवेक ने फोन उठाना उचित नहीं समझा था, तो सरला मैडम लगातार फोन लगाए जा रही थीं। तब आकृति ने कहा था- देख लो कोई जरूरी फोन होगा - तब विवेक इतना ही कह पाया था- मैं बाद में बात करता हूँ, अभी मीटिंग में हूँ। आकृति और विवेक की शादी वहीं हो गई थी। विवेक के माता-पिता अनिच्छा से मुम्बई आए थे और शादी के बाद उसी निराशा से लौट गए थे। लौटते हुए उनके साथ विवेक की शादी के सारे सपने, सारी उमंग, सारा उत्साह भी लौट गया था।

सरला मैडम को उसकी शादी की खबर भोपाल से ही मिली थी। उन्होंने शुभकामना के इतने फोन करना शुरू कर दिये कि विवेक बोर होने लगा था। उसे सरला मैडम के उपदेशात्मक लंबे-लंबे फोनों से एलर्जी हो चली थी। उस दिन तो हद ही कर दी थी सरला मैडम ने। वह अपने एक दोस्त के यहाँ पार्टी में आकृति के साथ गया था। सभी के साथ उनकी नवविवाहिताएँ थीं। सब अपनी-अपनी उमंग में थे, नाचते, गाते हुए। तभी सरला मैडम का फोन आ गया था। उसने मारे गुस्से के फोन नहीं उठाया था बार-बार रिंगटोन बजती ही चली जा रही थी तो विवेक के दोस्त सुमित ने व्यंग्य से कहा था - उठा ले यार, कोई पुरानी वाली होगी, बेचारी बार-बार लगा रही है...। विवेक जल्दी ही पार्टी से लौट आया था। घर आकर उसने बहुत ही गुस्से में सरला मैडम से फोन पर कहा था...। मैडम, क्यों लगा रही हैं, फोन, अभी मरा नहीं हूँ मैं, और न मर रहा हूँ/चाहे जब फोन लगा देती हैं आप, आपको भी मैडम कुछ समझ नहीं आता- उधर से सरला मैडम रुँधे हुए गले से बोली थीं - क्या ज्यादा तबियत खराब है, अपना ध्यान रखो विवेक, बीमार मत पड़ो। और ये मरने वरने की बात क्या कर रहे हो, तुम कहो तो कुछ दिनों के लिये हम लोग मुम्बई आ जाएँ, सच बताना, कोई चिन्ता की बात तो नहीं है- और आकृति हमारी बहू ठीक तो है... कोई गुड न्यूज?

विवेक का सरला मैडम के प्रतिदिन आने वाले फोनों से मोह-भंग होने लगा था। पहले वह प्रतिदिन सरला मैडम के फोन की प्रतीक्षा किया करता था, अब सोचता कि सरला मैडम का फोन तो नहीं है- किसी का भी फोन आता, वह सोचता कि सरला मैडम का फोन तो नहीं है- किसी का भी फोन आता, वह उठाने में हिचकिचाता था। विवेक ने अब फोर-जी वाला स्मार्ट फोन ले लिया था। यह नम्बर सरला मैडम को नहीं बताया था उसने। सरला मैडम के फोन पुराने नम्बर वाले फोन पर ही आते थे। वह उस फोन को घर पर ही छोड़ जाता। शाम को देखता सरला मैडम के दो या कभी चार मिस्डकॉल मिलते पर वह कभी उत्तर नहीं देता था। कभी-कभी रात में भी सरला मैडम फोन लगा देतीं तो विवेक बहुत गुस्से में सोचता सरला मैडम को

इतनी भी अक्ल नहीं है रात तक को फोन लगा देती हैं। वो तो फालतू बैठी हैं, रिटायर हैं पर मुझे तो काम हैं। ये सरला मैडम के मिस्डकॉल उसकी रातों तक को डसने लगे हैं, कुछ तो करना पड़ेगा।

विगत एक माह से विवेक ने सरला मैडम के किसी भी कॉल का जवाब नहीं दिया था। वह धीरे-धीरे अपने जीवन की व्यस्तताओं, महानगरीय सभ्यताओं और पारिवारिक दायित्वों में उलझ कर सरला मैडम को भूलता जा रहा था। उस दिन नौकरी की किसी उलझन में घिर कर वह बहुत निराश हो रहा था, तरह-तरह के भय उस पर हावी होने लगे थे, इधर आकृति भी माँ बनने जा रही थी, उसकी स्थिति भी घबरा देने वाली ही बनती जा रही थी। डॉक्टर ने कहा था- रिस्क बहुत है, मिस्टर विवेक, आइ कैन नॉट एश्योर यू...उस दिन थके हारे से विवेक को सहसा सरला मैडम की याद आई। उसने पुराना मोबाइल उठाया तो देखा बीस तारीख को सुबह 9 बजे से दोपहर एक बजे तक सरला मैडम के नौ मिस्ड कॉल पड़े हैं। एक कॉल संध्या 7 बजे का भी है। उसके बाद अगली तारीखों में सरला मैडम के सिर्फ तीन कॉल ही दिख रहे थे। विवेक ने सोचा ये मैडम भी अजीब हैं, एक दिन में नौ बार फोन लगाने की क्या जरूरत पड़ गई। एक माह से तो मैडम को फोन लगाया भी नहीं, उठाया भी नहीं। मुझे लेकर ज्यादा ही परेशान हो रही होंगी, तभी इतने फोन लगा दिये। उसने देखा आज पच्चीस तारीख है, पाँच दिन पहले के नौ कॉल... सरला मैडम के प्रति तमाम क्रोध, उपेक्षाओं के बाद भी विवेक को चिन्ता सी होने लगी थी कि इतने कॉल क्यों किये सरला मैडम ने? उसकी बेचैनी बढ़ने लगी थी इतने दिनों बाद मैडम को फोन लगाने में थोड़ी झिझक भी उसे हो रही थी पर उससे रहा नहीं गया और उसने सरला मैडम को फोन लगा ही दिया। उधर से पुरुष स्वर ने उत्तर दिया था-हलो, विवेक मैं शेखर सहाय... कैसे फोन लगाया... विवेक ने धीमी आवाज में शेखर सहाय को नमस्कार किया फिर अपनी व्यस्तताएँ बताईं, माफी माँगी और कहा- सर, सरला मैडम को फोन दीजिये प्लीज मुझे उनसे बहुत जरूरी बात करनी है- तब शेखर सहाय ने बहुत ही असहज लहजे में कहा था-कौन सरला मैडम, अब यहाँ कोई सरला मैडम नहीं हैं। एक सरला थी मेरी पत्नी बीस सितम्बर 2018 प्रात: 8.40 पर उनका देहान्त हो गया....। कहकर उन्होंने फोन काट दिया था।

विवेक फोन को कान पर ही लगाए खड़ा रहा। सरला मैडम से जुड़ी एक-एक बात उसे याद आने लगी। उसने फिर से फोन लगाया पर उधर से फोन बंद कर दिया गया था। कभी न समाप्त होने वाली बेचैनी ने उसे घेर लिया था। आकृति चाय लेकर आई और वहीं बैठ गई। उसने पूछा भी- क्या हुआ किसका फोन था, सरला मैडम को लेकर आत्मग्लानि और बेचैनी से भरा विवेक इतना ही बोल पाया- शायद सरला मैडम, शायद पक्का नहीं है... हो सकता है मैंने गलत सुना हो? आकृति तब बोल उठी थी- सरला मैडम, सरला मैडम, अच्छा हुआ मर गईं, कोई पहली औरत तो नहीं थी जो मरी हो। लोग रोज पैदा होते हैं, मरते हैं ...और मेरी फिकर नहीं है, डॉक्टर ने भी कह दिया है, रिस्क है पर तुम्हें तो बस सरला मैडम- थी कौन तुम्हारी, न तुम्हारी प्रोफेसर भी, न टीचर, न बहन थी, न माँ थी, पड़ोसन भी नहीं, महिला मित्र भी नहीं थी, तुम्हारी तो फिर इतनी पीड़ा क्यों? हद है ...अब मैडम का शोक छोड़ो चाय पियो - जमाने में और भी गम हैं, सरला मैडम के सिवा। आकृति ने क्या कहा, क्या नहीं कहा-विवेक ने कुछ भी नहीं सुना था। वह शून्य-भाव में बस दीवार पर लगी पेंटिंग को देखता रहा।

विवेक दूसरे ही दिन से तत्काल में रिजर्व सीट का प्रयास करता रहा। फिर वह असफल हुआ तो

सीधा हवाई अड्डे पहुँच गया। बिना कुछ सोचे भोपाल जाने वाली फ्लाइट पकड़ ली थी उसने।

अपराधी सा पहुँचा था विवेक सरला मैडम के घर। सातवाँ दिन था आज सरला मैडम को गए हुए। सरला मैडम की उपस्थिति, उनके अस्तित्व में समाप्त होकर भी चारों ओर महसूस हो रही थी, विवेक को। शेखर सहाय और उनकी दोनों बहनें उदासी की मूर्ति बनी बैठी थीं। सहाय बात करते-करते बार-बार रोने लगते। एक ओर स्कूल की टीचर टाइप की 3 महिलाएँ बैठी थीं।

विवेक को आया देख शेखर सहाय रुँधे गले से बोले, विवेक आपकी मैडम आपको बहुत याद करती थीं। आप फोन नहीं उठाते थे तो उन्हें लगता था, आप किसी संकट में हैं। बहुत व्याकुल हो जाती थीं/आपको याद कर करके... उस दिन मुम्बई जाने को तैयार हो गई थीं, उन्हें लगता कि आप उनसे अपनी कोई बीमारी या कोई बड़ी समस्या छुपा रहे हैं, इसीलिये फोन नहीं उठा रहे हैं। वो ऐसा ही संकोची है, जरूर कुछ न कुछ गड़बड़ है। विवेक जरूर संकट में है, हमें मुम्बई चलना चाहिये - ऐसा कहती थीं आपकी सरला मैडम - कहते हुए उन्होंने 19 तारीख के रिजर्वेशन के दो टिकिट भी बताए थे ...वो तो अचानक 19 की सुबह से ही उन्हें चक्कर आने लगे थे, तो हम लोग पंजाब-मेल नहीं पकड़ पाए वरना हम तो आ ही रहे थे, ठहरो मैं अभी आया कहकर वे मुश्किल से उठे और भीतर चले गए। उन्होंने दो छोटे-छोटे सुंदर से पैकेट विवेक को पकड़ा दिये और कहा- स्विटजरलैंड गए थे हम, तुम्हारे लिये एक घड़ी लाई थी तुम्हारी मैडम और इसमें कुछ बहू के लिये है - मैंने देखा नहीं है। बार-बार कहती थी ... विवेक के पास बेकार सी घड़ी है, हर कभी बंद हो जाती है, ये घड़ी ठीक रहेगी, उसे अच्छी लगेगी, बताओ लगेगी कि नहीं। विवेक का मन फूट-फूट कर रोने का हो रहा था, वह चुपचाप बैठा मैडम के चित्र को देख रहा था। वही मन्द मुस्कान, वही बोलती आँखें ...मृत्यु के बाद भी मृत्यु को नकारती सरला मैडम, धीमी गति से उठा था विवेक, चित्र को प्रणाम करते हुए उसके आँसू निकल ही पड़े थे।

मुम्बई लौट रहा था विवेक, सरला मैडम के हर कभी आने वाले मिस्ड कॉलों से मुक्त किन्तु बेहद उदास, भीतर तहों में कंपन महसूस करते हुए उसने सरला मैडम के दिये हुए उपहार को खोल कर देखा। बहुत ही बढ़िया सी स्विस घड़ी थी, सही समय बताती हुई, उसने घड़ी बाहर निकालकर हाथ में पहन ली। नीचे घड़ी के डिब्बे में लिखा था - प्रिय विवेक को, जिसे मैंने हमेशा अपना पुत्र ही माना- सरला मैडम। विवेक की आँखें फिर डबडबाने लगी थीं।

सरला मैडम की आकस्मिक विदाई से बिखरा-टूटा विवेक दूसरा उपहार नहीं खोल पाया था। अपराध-बोध में डूबा विवेक उससे मुक्त नहीं हो पा रहा था, बार-बार मोबाइल में सरला मैडम के मिस्डकॉल उसे निरन्तर दिख रहे थे, उसके मन में हा-हाकार सा मच रहा था। तभी सामने बैठी महिला ने उससे पूछा-बेटा कहाँ तक जा रहे हो, बहुत परेशान लगते हो...। कुछ बताओ, शायद मन हल्का हो जाए/विवेक क्या बताता उस महिला को। चुपचाप खिड़की के बाहर देख रहा था।

मुम्बई की ओर भाग रही थी ट्रेन और विवेक अपने दु:खों को भुलावा देता हुआ सरला मैडम की छोटी-छोटी बातों को अनुपात से अधिक विस्तार से सोचने के संकट से जूझ रहा था। सरला मैडम से जुड़ी हर घटना अब उसे याद आ रही थी और मन था कि भारी हुआ जा रहा था।

सम्पर्क : *विदिशा (म.प्र.)*
मो. 8989624149

श्रीमती अंजु जाटव

'शिवोहम्' सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

आज अवसर बन पड़ा है कि शिवोहम् पर समीक्षा लिखूँ। शब्द जो अक्सर मेरे अंत:हृदय में हमेशा से ही उमड़ा और मचला करते थे, वे सब अचानक से बौने प्रतीत हो चले हैं।

'शिवोहम्' एक आत्मकथ्य भर नहीं जिसे बेहद सहजता से जी लूँ, अपितु ये तो सहजताओं का वह सरलीकरण हैं जो स्पष्टताओं का ग्रंथ हैं।

'शिवोहम्' कहानी है एक सम्पूर्ण जीवन में स्पष्ट होती ईश्वरीय आध्यात्मिक दिव्यताओं की। उनके अन्वेषण और प्रकृति के सान्ध्यि की, साथ ही उन स्रोतों की, जो कभी घटते नहीं हैं, जिन्हें ईश्वर ने बनाया है और उन चीजों की जिन्हें मनुष्य ने बनाया है-रिश्ते व संबंध, विज्ञान व ज्ञानी की।

आगे ज्ञात से प्राप्त की, अज्ञात से प्राप्त सुखों की, भोजन, भक्षण और खाने की समझ पर मनुष्य स्वाभाव की। इच्छा शक्ति से मृत्यु तुल्य कष्टों से उबरने की। आत्महत्या को नकारने की, विचार शक्ति की, ताकत को महसूस करने की।

स्वयं के बल को त्याग कर सहस्त्र योग क्रिया से राम अनुभूति प्राप्त करने की। अखण्ड शिव को इसी सृष्टि में ज्योर्तिस्वरूप में प्राप्त करने की। अपने आत्मस्वर में योग से 'शिवोहम्' को महसूस करने की, व सम्पूर्ण दुनिया को अपने स्वरूप में समेट लेने वाले सिंहस्थ व कुंभ के आरम्भ की। और 'शिवोहम्' को लिखा है प्रतिष्ठित वरिष्ठ लेखक/कवि श्री आनंद प्रकाश शर्मा जी ने/ये लेखक की चौदहवीं कृति है।

'शिवोहम्' तक आते-आते लेखक आत्म चेतन प्रबुद्धता को प्राप्त कर गये हैं वे प्राणी मात्र के हुये मालूम पड़ते हैं। सच पूछो तो 'शिवोहम्' वर्तमान समय की एक उत्कृष्ट कृति है, जो कोरोना जैसे दुर्गम समय काल में प्रकाशित हुई है। इसे दिल्ली के ब्लू-रोज पब्लिकेशन ने जन-जन तक पहुँचाया है इसका ई-वर्जन भी इंटरनेट पर मौजूद है।

मेरे मन की कहूँ तो शिवोहम् एक ऐसी कृति हैं जिसे पढ़ा जाना चाहिए, क्योंकि जिसने इसे पढ़ लिया उसने ही जीवन को सहज, सुगम और सुंदर कर लिया। ये कृति सत्यम् शिवम् सुंदरम् है।

कृति : शिवोहम्, लेखक : आनंद प्रकाश शर्मा
प्रकाशक : ब्लू-रोज पब्लिकेशन, दिल्ली

सम्पर्क : *पिपरिया-होशंगाबाद (म.प्र.)*

डॉ. विद्या केशव चिटको

क्रांतिपर्व, सन्मार्ग, समत्व और सत्कर्म की त्रिवेणी

ऋग्वेद की 10.57.1 की ऋचा और अथर्ववेद की 13.1.59 में इंद्र की प्रार्थना में कहा गया है, 'हे इंद्र ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हम सभी सन्मार्ग पथ मार्ग से कभी विचलित न होवें। सत्कर्म, समत्व को ही सदा अंगीकृत करें।' वेदों ने उत्तम, उदात्त, कल्याणकारी विचार, आचार, व्यवहार की विधायकता को ही सर्वश्रेष्ठ माना। कारण मानव सच्चे अर्थ में मनुष्य बने और सर्वांगीण उसके कर्म कल्याणकारी होवें। डॉ. उत्तमराव पाटील ऐसे ही व्यक्ति थे, स्वतंत्रता सेनानी। जीवन के अंतिम क्षण तक अपनी मातृभूमि की सेवा में लगे रहे। उन्होंने अपने कार्य द्वारा इतिहास निर्माण किया। सतारा जिले के परिसर में उन्होंने सेवा भाव से एक व्यापक संगठन खड़ा किया।

क्रांतिपर्व ग्रंथ स्वतंत्रता सेनानी डॉ. उत्तमराव पाटील जी की लेखनी से निसृत हुआ है। डॉ. पाटील इतिहासकार नहीं थे पर इतिहास बनाने वाले कर्मवीर ने सन् 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में जो सक्रिय भूमिका निभाई थी उसका विवरण 'क्रांतिपर्व' ग्रंथ में है।

सन् 1947 में महात्मा गाँधी पंचगणी पधारे थे। क्रांतिसिंह नाना पाटील जी उनसे मिले थे। बापू के प्रति अपार श्रद्धा भाव व्यक्त किया था। नाना पाटील जी ने बापू को सन् 1942 के आंदोलन के समय उनके द्वारा किए गए कार्य की कथा सुनाई थी। जिसे सुनकर तो गाँधी जी की आँखों में आँसू छलक आए बापू बोले, ''नाना, आपका आंदोलन मेरे आदर्शों में आता है या नहीं यह महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि यह महत्त्वपूर्ण है कि आपने आंदोलन को जीवित रखा। मैं मानता हूँ कि कायर की अहिंसा से शूरों की हिंसा भली।''

एक बार पंडित नेहरू पुणे में एक वर्किंग कमेटी में पधारे बातचीत के दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए अत्याचार, उनके कार्य का विवरण सुनाया जिसे सुनकर पं. जवाहरलाल जी स्तब्ध रह गए। उन्होंने कहा, 'यह सभी जानकारी मेरे लिए चकित करती घटनाएँ हैं। उन्होंने कहा, I am wonderstruck to hear all this happening. It seems to me this is a new historical chapter in Indian Freedom struggle.

पुस्तक : क्रांतिपर्व, लेखक : उत्तमराव पाटील
प्रकाशक : शैलजा प्रकाशन, कानपुर

क्रांतिपर्व ग्रंथ में पत्री सरकार के नाम से विख्यात सतारा की 'प्रति सरकार' द्वारा जनता के लिए चलाई गई, जनता की ग्राम स्वराज्य सरकार की गतिविधियों का पूरा विवरण है। सन् 1942 से 1946 तक पूरे चार साल सतारा महाराष्ट्र के लगभग छः सौ से अधिक गाँवों में पत्री सरकार का शासन चला। इसके सूत्रधार थे नाना पाटील डॉ. उत्तमराव पाटील उनकी धर्मपत्नी लीला पाटील उनके सहयोगी और ग्रामवासी। सन् 1942 के स्वतंत्रता समर में सतारा की इस पत्री सरकार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

'क्रांतिपर्व' ग्रंथ उत्तमराव पाटील का आत्मकथनपरक लेखन होते हुए भी महात्मा गाँधी जी, साने गुरु जी, नाना पाटील और सन् 1942 की लड़ाई में अपने आप को झौंक देने वाली सामान्य जनता इस पुस्तक की नायक है। उनके सर्वस्व समर्पण त्याग की गाथा 'क्रांतिपर्व' ग्रंथ है। इस ग्रंथ की अर्पण-पत्रिका भी विशेष है। साने गुरु जी जिन्होंने उत्तमराव को पुरुषार्थी बनाकर मानवता धर्म की शिक्षा दी थी देश के लिए शहीद बनी निस्वार्थी माताजी और जीवन संगिनी जिसने शौर्य पराक्रम और पुरुषार्थ का आदर्श पाठ प्रस्तुत किया उन्हें अर्पित की है। उत्तमराव निस्पृह, निर्लोभी और अजातशत्रु थे। साने गुरु जी पर उनकी अपार श्रद्धा थी। उनकी देश-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति, मातृ-भक्ति, गुरु-भक्ति और ईश्वर-भक्ति की साकार प्रतिमा यानी उत्तमराव पाटील।

'क्रांतिपर्व' ग्रंथ पत्री सरकार का जीवंत ऐतिहासिक दस्तावेज है।

साढ़े तीन सौ पृष्ठों में विस्तार पाए इस ग्रंथ को छः अध्यायों में बाँटा गया है। आज़ादी के सन् 1942 के पूर्व। यह पृष्ठभूमि के रूप में है। दूसरा अध्याय अगस्त क्रांति भड़क उठी। तीसरा साढ़े पाँच लाख के खजाने की लूट। चौथा पंढरपुर पलायन। पाँचवा वनवास से अज्ञातवास और छठा है पत्री सरकार। परिशिष्ट में मान्यवरों का परिचय और तत्कालीन घटनाओं की साक्ष्य देते कुछ चित्र हैं। समग्र रूप में क्रांति के धधकते अग्निकुंड को प्रज्ज्वलित करने वाली पिछली पीढ़ी के असीम त्याग का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता। प्रति सरकार द्वारा किए गए देशोत्थान कार्य को जानने का प्रभावी माध्यम है। यह ग्रंथ मराठी में लिखा गया है। पुस्तक का हिंदी रूपांतर सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के (सेवा निवृत्त) प्रोफेसर डॉ. गजानन चव्हाण ने किया है। 'झाड़ाझड़ती' कृति के अनुवाद के लिए वे महाराष्ट्र हिन्दी परिषद, केंद्रित हिंदी निदेशालय, महामहिम राष्ट्रपति जी द्वारा सम्मानित हैं। ऐसे सिद्धहस्त लेखक द्वारा अनुवादित ग्रंथ का प्रकाशन शैलजा प्रकाशन, कानपुर, श्री रामेंद्र तिवारी जी ने किया है। एक विस्तृत हिंदी प्रदेश में भी यह ग्रंथ पढ़ा जाए। पत्री सरकार के द्वारा किया गया अद्वितीय कार्य सातारा जिले में आज़ादी हासिल करने के लिए किया गया जो अब तक प्रकाश में नहीं आया था। इतिहास मौन ही रहा। इतिहास की पुस्तकों में भी विस्तार से नहीं आ पाया था उस इतिहास से हमारी नई युवा पीढ़ी परिचित हो। निर्भय वृत्ति निष्ठा शौर्य पराक्रम सदाचार नीति मूल्यों का संरक्षण देश-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति, मातृ-भक्ति, जन-भक्ति, सेवा त्याग समर्पण, मानव सेवा की ओर उद्धृत हो, प्रेरणा प्रोत्साहन प्राप्त हो इस उदात्त हेतु से 'क्रांतिपर्व' ग्रंथ का सार संक्षेप में देने का कार्य मैंने किया है।

सम्पर्क : *नाशिक (महाराष्ट्र)*
मो. 9527313387

नरेन्द्र श्रीधर जोशी

जीवन दर्शन व प्रेम-पराकाष्ठा की कविताएँ

'तमकऽकइ करनुज' यह पंक्ति आदेश, अवज्ञा, अवमानना, कटाक्ष, क्रोध, लापरवाही आदि अनेकार्थी उक्ति है। यहाँ इसकी व्यंजना में निजता को मुखर करते हुए नफे-नुकसान के कुछ बेहतरीन चित्र उकेरे गए हैं। जिसका सीधा सा अर्थ है, दुनिया जाए भाड़ में तुम्हें क्या पड़ी? कोई कुछ भी करे, तुम्हें क्या करना है? उदाहरणार्थ 'नवस्या को छे, एकलोज पोरयो, कणी पऽबैठाइऽ, कि माथा पऽ, तमकऽकइ करनुज' एवं भणनऽनी जाय, सेरी-सेरी दौड़ऽबैल चरावऽकि, बोकड़ी चरावऽ, तमकऽकइ करनुज।' किताब में इसी अंदाज की और भी रचनाएँ हैं। अर्थ-सामर्थ्य और शब्द सामर्थ्य दोनों ही दृष्टियों से उन्हें संपूर्ण रचना कहा जा सकता है। उक्ति-चित्रण में पुष्प जी का कोई सानी नहीं। अगर वे इस ओर संपूर्ण रूप से चले जाएँ, तो उनकी एक अलग पहचान कायम हो सकती है। पुस्तक के कई पदों पर स्नेह की बानगी, उमंग का उद्भव तथा प्रेम की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है। अगर रचनाकार पुष्प हो तो उसकी नजाकत तथा महक को महसूस किया जा सकता है। जैसे- 'हवा जसी वयती रयज, या विचार की धारा। मन मंऽउठती रयज सदा, कोई भाव की धारा' तथा 'मन मऽपोसेली कल्पना, हाथ की अंगली मऽधरेली कलम से, कागज पर कविता बणी-बणी जाए।'

निमाड़ी का रचनाकार सुई से किए गए छेद के अति सूक्ष्म भाग से भी अपनी रचना का भू-भाग निकाल सकता है। जहाँ पर गिनती समाप्त होती है वहाँ से भी बोली के किसी विषय को लेकर अपनी गिनती शुरू कर सकता है। यह सराहना का विषय है। इस किताब में भी भिन्न-भिन्न विषय अपनी मौलिकता की छाप छोड़ते हुए उजागर हुए हैं। रचनाओं में ताजगी और नयापन है। जैसे- 'केतरो भी कोई पऽ, भरसो करऽ, सबकऽ अपणीसांस, खुदज लेणी पड़ज।' थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह देना पुष्प जी की विशेषता है। उनकी अभिव्यक्ति बेबाक-अभिव्यक्ति है। उनकी अनुभूति दिव्य है। निमाड़ी बोली के प्रति उनकी गहरी ललक है। उनका काव्य अध्यात्म और जीवन दर्शन की बानगी भी पेश करता है। उनका द्वंद्व और अंतर्द्वंद्व मोहने वाला है, जैसे- 'खुसी का बाद मऽ, फिरी दुख आवज, तवं हम हँसता नी हइ, दुख का बाद मऽ, खुसी आवज, तो हम रइता नी हई।'

पुस्तक : तमकऽकइ करनुज
लेखक : प्रमोद त्रिवेदी पुष्प

प्रमोद जी का परिचय साहित्य की सभी विधाओं से है। शिक्षा जगत से जुड़े होने से उनका लेखन परिमार्जित है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने वाले कई पाठों को उन्होंने पढ़ा है। प्रकृति और पर्यावरण से उन्हें गहरा लगाव है। उनकी एक रचना 'पानी रोको' नवगीत सा प्रभाव छोड़ती है- 'धरती कऽभेदी-भेदी न, करयो पेट कऽरीतो, खेत-गाँव मऽपाणी रोको, नऽओका जीव कऽजीतो। तवंज मिलऽ गऽचारो-पाणी। नई तो मरऽ गऽसारो जग, बिना पानी पीतो।' यशस्वी रचनाकार ने कुछ रूपक रचे हैं, कुछ व्याख्याएँ की है, कुछ मंत्रणाएँ दी हैं, कुछ विद्रूप रचे हैं। जैसे- 'काम करनऽको मन होय, तो फुरतइ से अपनी अँगुली चला, फोकट्या हाथ मत हला। साथ देणु होय सच्चामन से, तो कदम से कदम मिला, लंबी डफांग मत चला। बात समझ में आवती होय, तो तोला भर की जबान हला, घड़ी भर को डोबरो मत हला।'

समय-समय पर बोली के रचनाकारों ने अंतर्मन के साक्षी रहे, कई विषयों को खोज निकाला। उन पर रूपक गढ़े गए। प्रभाकर दुबे हो, गौरीश जी, बाबू दादा या राजाबाबू, कुँवर अनुज, जोशीलो, हरीश दुबे या शिशिर भाई आदि ऐसे अनेक नाम हैं, जिन्होंने शृंगार को सज्जा एवं भाव-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया है। पुष्प जी भी इस विषय से अछूते नहीं रहे। उन्होंने भी मोहित करने वाली कलम चलाई है। जैसे- 'थारो सोना जसो गाँव' म्हारा माटी भरेला पाँव। कसी आउँ म्हारा साजन, हउँ तो हिचकुं ओ मनभावन।' प्रमोद जी जब भी कल्पनाओं के दायरे में रहे, उन्होंने एक नई सोच को अंजाम दिया। उनकी चार-पाँच पंक्तियों के लघु कलेवर में भी गहरे अर्थ वाली व्यापकता के दर्शन होते हैं, जैसे- 'तमकऽचिमटी भर धूलो नी फावऽ, चिमटी जसा रवां।' एक और- 'जवँ आग मऽ बलइ न राख हुइ गया हम, तव फिरी पूछज कि आँच छे कि नई।'

रचना को धर्मिता से जोड़ा ही इसलिए गया है कि वह एक ऐसी विलक्षण शक्ति हो, जो आनंद को उपजाने वाले धर्म को पैदा करे। वह कब, कहाँ व कितना प्रभाव छोड़ती है, यह सुनने वाले की प्रकृति, स्वभाव व पांडित्य पर निर्भर करता है। किसी को सुनना और उसकी सराहना करना ये दोनों गुण प्रकृति से तालमेल बिठाने के गुण हैं। ये गुण जिसके पास हो उसके लिए चुटकी भर धूल भी च्यवनप्राश हो जाती है। संस्कृति पुरुष वसंत निर्गुणे जी के अनुसार पुष्प जी निख्खल निमाड़ी की तरफ न भी गए हो, पर फिर भी गए हुए से ही लगते हैं। बंसीलाल परमार का आवरण चित्र देखकर तो यही गुनगुनाने का मन करता है कि बड़े अच्छे लगते हैं, यह बोली यह जाजम, यह कविता और...? तुम...।

सम्पर्क : *खरगोन (म.प्र.)*
मो. 975490086

युगेश शर्मा

युगे-युगे शिशुपाल : पीड़ा और आक्रोश मिश्रित स्वर

अतीत में जो भी घटा है, सामान्यत: उसको इतिहास की वस्तु मानकर विस्मृत कर दिया जाता है। फलत: उससे स्पंदित और आंदोलित होने का दौर थम जाता है और वर्तमान की छाया उसको पूरी तरह आच्छादित कर लेती है। यह सहज माननीय प्रवृत्ति है कि मनुष्य वर्तमान में साँसें लेते हुए भविष्य के बारे में विविध परिप्रेक्ष्यों में सोचता रहता है। भविष्य को स्वयं और समाज, दोनों के लिए सुखद बनाने के लिए नाना प्रकार की परिकल्पनाएँ करता है तथा तदनुरूप योजनाएँ भी बनाता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य यह भूल जाता है कि वर्तमान तो अतीत के कंधों पर खड़ा है। यदि अतीत की अनदेखी की जाएगी, उसकी उपेक्षा होगी, तो निश्चित ही वर्तमान दिशाहीन हो जाएगा। दरअसल अतीत ही है, जो मनुष्य को बताता है उसके प्रभाव वाले कालखंड में ऐसा क्या नकारात्मक घटित हुआ है। जिसकी पीड़ा अब भी महसूस की जा रही है और उसको जब भी स्मरण किया जाता है, तो मानव-मन में आक्रोश का ज्वार भी फूट पड़ता है, एक टीस उठती है। अतीत में जो भी पीड़ादायक, अन्यायपूर्ण और शर्मिंदा करने वाले प्रसंग सामने आए थे, वे तब मन-मस्तिष्क में पुनर्जीवित हो उठते हैं।

यह सच है कि अब लोगों के चिंतन में, उनकी कार्यशैली में ऐसे बदलाव आ गए हैं, जो उनको वर्तमान की परिधि से बाहर निकलने ही नहीं देते। जीविकोपार्जन के तौर-तरीके भी ऐसे हो गए हैं कि बहुत कम लोग बीते कल के बारे में सोचते और भविष्य की चिंता करते हैं। केवल वर्तमान में ही जीवन की सार्थकता ढूँढ़ने वालों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। ये वे लोग हैं, जो अन्याय, अत्याचार और पक्षपात के खिलाफ संघर्ष के लिए मैदान में उतरना तो दूर, उसके खिलाफ गंभीरता के साथ सोचते ही नहीं हैं। यह मामूली बदलाव नहीं है, क्योंकि ऐसी संकीर्ण सोच और पलायनवादी मनोवृत्ति ही है, जो विभिन्न प्रकार के अन्याय और उत्पीड़न को जन्म देती है और उसको फैलाती है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष वर्चस्व वाली समाज-व्यवस्था में स्त्रियों ने निर्दोष होते हुए भी बहुत अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न सहा है। तब स्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं कि स्त्रियाँ प्रतिकार के लिए स्वयं मैदान में नहीं कूद सकती थीं। रामायण और महाभारत काल में भी स्त्रियों को अपमान और अन्याय के दौर से गुजरना पड़ा है।

मैंने यह भूमिका अंग्रेजी साहित्य की सेवानिवृत्त प्राध्यापिका एवं कवयित्री डॉ. नीलिमा रंजन

पुस्तक : 'युगे-युगे शिशुपाल' (काव्य संग्रह) /रचनाकार: डॉ. नीलिमा रंजन
प्रकाशक: ऑनलाइन गाथा पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ/मूल्य : 210 रुपये।

(भोपाल) की सद्य प्रकाशित काव्य-कृति 'युगे-युगे शिशुपाल' के संबंध में अपनी बात कहने के लिए बाँधी है। दरअसल मुक्त छंद की लगभग 100 पृष्ठों की यह कृति आम काव्य संग्रहों से अल्हदा है। इसमें कवयित्री ने हमारी पौराणिक कथाओं के भीतर प्रवेश कर कुछ ऐसे प्रसंगों को खोज निकाला है, जिनमें समसामयिक स्थितियों के बीच स्त्रियों ने अन्याय और अत्याचार को सहा है लेकिन तब वे उसके विरुद्ध आवाज उठाने का साहस नहीं दिखा पायी थीं। इस संबंध में कवयित्री ने पुस्तक के अपने आत्मकथ्य में कहा है, 'शैशव काल से रामचरित मानस, राधेश्याम रामायण, महाभारत तथा अनेक पौराणिक कथाएँ सुनते-पढ़ते अनगिनत पात्र मन में पैठते गए, पता ही नहीं चला। वे पात्र इतने सजीव लगते हैं मानो आसपास के ही हों। इस कौतुक ने मेरी कल्पनाओं को नए-नए कलेवर दिए और उन पात्रों को देखने-समझने की नई दृष्टि दी।' 'युगे-युगे शिशुपाल' कविता संग्रह के दो भाग हैं। प्रथम भाग में उन्होंने पौराणिक पात्रों की वर्तमान में प्रासंगिकता को रेखांकित किया है तथा द्वितीय भाग में मन की सनातन भावनाओं, यथा-स्नेह, ममता, प्रेम, भय, क्रोध एवं आशंकाओं को अपनी गहन-गंभीर कविताओं में प्रस्तुत किया है। प्रथम भाग की कविताएँ इस कृति का प्राण हैं और वे ही कृति के नाम की सार्थकता को ठीक-ठीक प्रतिपादित भी करती हैं। दरअसल इन कविताओं में कवयित्री के मन में पौराणिक पात्रों की तत्कालीन चुप्पी वाली भूमिका को लेकर जो पीड़ा और आक्रोश है, कवयित्री किसी स्त्री पात्र से जवाब माँगती हैं तो किसी पर गुस्सा होती हैं। वे व्यथित हैं कि पौराणिक कथाओं के स्त्री पात्रों ने पुरुष समाज के उत्पीड़न और अन्याय को आखिर चुपचाप क्यों सह लिया? तत्क्षण कड़ा प्रतिकार कर उन्होंने अपनी अस्मिता एवं जीवटता का सच्चा परिचय क्यों नहीं दिया?

स्त्री सुख और शांति पाने के लिए बार-बार अपने मूल स्वरूप में लौटती है और स्वयं को दुनिया-जहान के भार से मुक्त महसूस करती है। ये भाव हैं- संग्रह की कविता 'पुनर्योग' के। कवयित्री इस स्थिति पर गहरा संतोष प्रकट करती हुई कहती हैं - 'लौट आई/वही बन गई/बेपरवाह हँसती खिलखिलाती/उनके साथ।' 'जिजीविषा' कविता में स्त्री की जिजीविषा का बहुत उत्तम चित्रण हुआ है। जब स्त्री अपने अतीत की समीक्षा करती है, तो वह आशा और विश्वास अपने हृदय में पुनः पा जाती है तथा सहसा नये उत्साह से भर उठती है। उसके भीतर नई ऊर्जा का संचार भी होता है। वह महसूस करती है कि जीवन-यात्रा के किसी भी पड़ाव पर न तो वह कमजोर पड़ी थी न ही उसने अपने कदम पीछे खींचे थे। 'प्रश्न' कविता में कवयित्री ने एक शाश्वत सूत्र दिया है-'जीवन गतिमान है/ठिठकता, रुकता नहीं/चेष्टाहीन होना अपराध/धारा संग बहते जाना/बहते जाना जीवन।' हाँ, आज के दौर में एक समस्या उसके सामने गंभीर चुनौती के रूप में अवश्य खड़ी है- 'दरकार है/निष्ठा की/विश्वास की/अनुकंपा की/कहाँ पाऊँ?'

कवयित्री अतीत से बतियाते हुए वर्तमान अर्थात् कलयुग के सामने कुछ ऐसे प्रश्न प्रस्तुत कर दिये हैं, जिनके उत्तर समाज और सरकार दोनों को तलाशना होंगे। यदि इन प्रश्नों की अधिक अनदेखी की गई, तो पुरुष वर्ग चाहे एक बार अपना मान-सम्मान और वजूद बचा ले, लेनिक स्त्री वर्ग के लिए ऐसा कर पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाएगा। 'युगे-युगे शिशुपाल' काव्य-कृति में अंतर्निहित संदेश यही है कि नारियों का अपमान, उत्पीड़न और रोज-रोज की दुश्वारियों से यूँ ही गुजरना जारी रहा तो राष्ट्र का प्रगति-रथ भी सतत् गतिमान नहीं रह सकेगा।

सम्पर्क : *भोपाल (म.प्र.)*

R.N.I.३०९९३/७६

साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, बाणगंगा, भोपाल (म.प्र.)